
त्रिजटा

त्रिजटा

शिव वचन चौबे



शांति प्रकाशन
इलाहाबाद

प्रकाशक :
शांति प्रकाशन
८४/१, पुराना बैरहना,
इलाहाबाद–२११ ००३



संस्करण : १९९२ ई०



मूल्य : ७५.०० रुपये मात्र



मुद्रक :
पियरलेस प्रिन्टर्स
१, बाई का बाग, इलाहाबाद–२११ ००३

वातायन

राम-कथा में त्रिजटा की भूमिका जितनी महत्वपूर्ण है, ग्रंथकारों ने उसे उतना ही उपेक्षित किया है। वाल्मीकि से लेकर तुलसी और कंब से लेकर कृतिवास ही नही, अपितु किसी भी परवर्ती और पूर्ववर्त्ती कथाकार ने उसकी भूमिका के साथ न्याय नहीं किया है। वैसे यह काव्य भी त्रिजटा की जीवनी नहीं है। महापुरुष तो घटनाक्रम में जीते हैं। उनके जीवन का एक महत्वपूर्ण क्षण ही उनके समग्र जीवन का इतिहास बन जाता है। त्रिजटा कहाँ जन्मी, कब और कहाँ मरी तथा किन माता-पिता अथवा पति-परिवार से संबंधित हुई, इन बातों में न त्रिजटा की रुचि है और न ही हमारी। रुचि तो उस महत्वपूर्ण घटना के विस्तृत विवेचन में है, जिस कालखंड में संकटों से घिरी सीता जनकपुर, अयोध्या और स्वयं राम से विलग होकर लंका में दुखित पड़ी थी। वहाँ उस नारी के जीवनाधार क्या थे? उस विपत्ति में उसका साथी कौन था? सारे शुभचिंतकों और संबंधियो से कट कर विलग हो जाने के पश्चात, सीता ने लंका में जिन दो अपरिचितों से संबंध स्थापित किया था, उनमें माँ के रूप में त्रिजटा का स्थान प्रथम और पुत्र के रूप में दूसरे स्थान पर हनुमान आये थे। इन दोनों में, शत्रुपक्ष की सदस्या होने के नाते त्रिजटा का स्थान अत्यंत चमत्कारिक और महत्वपूर्ण था। सीता के मानस पुत्र के रूप में हनुमान तो जनमानस में प्रशंसित और पूजित हुए, किंतु त्रिजटा? आज तक सीता की वह संकटकालीन और ममतामयी माँ निपट उपेक्षिता बनी रही। जिस त्रिजटा के समकक्ष सुनयना और कौशल्या का मातृत्व भी बौना पड़ जाय, ग्रंथकारों ने उस ममतामयी माँ की इतनी वड़ी उपेक्षा क्यों की, यह समझ में नहीं आता। क्या इसलिए कि वह शत्रुपक्ष से संबंधित एक राक्षसी थी? क्या इसलिए कि वह रावण की विश्वासपात्री और लंका की निवासिनी थी?

विडंबना यह कि आज तक किसी ने त्रिजटा का जीवन-चरित तो दूर, उसकी भूमिका पर भी पूर्ण प्रकाश नहीं डाला। वाल्मीकि के अनुसार वह एक बूढ़ी राक्षसी और सीता की 'हितैषिणी' थी। उसने दो अवसरों पर सीता को सांत्वना दी थी – 'राक्षसी त्रिजटा वृद्धा प्रबुद्धा वाक्यमब्रवीत'।

स्वयं राम ने लंका-विजय के बाद, अयोध्या जाते समय त्रिजटा को अर्थ और सम्मान प्रदान किया था।

'त्रिजटा चार्थमानाभ्यं योजयामास राक्षसीम्' (3, 275, 39)

भारत की अपेक्षा हिन्देशिया की रामकथा में त्रिजटा को अधिक महत्व दिया गया है। रामायण ककविन के अनुसार अग्नि परीक्षा के समय त्रिजटा ने सीता के सतीत्व का साक्ष्य दिया तथा बाद में वह सीता के साथ अयोध्या चली गयी। (सर्ग-24) सीता द्वारा त्रिजटा की विदाई अंतिम सर्ग में वर्णित है।

जो भी हो, किंतु यह सच है कि देश-विदेश में उपलब्ध करीब-करीब हर रामकथा में त्रिजटा का वर्णन सीता की हितैषिणी के रूप में स्वीकृत है, किंतु कही भी उसकी संपूर्ण जीवनी नहीं मिलती।

इस कृति में उपेक्षा की इसी गहरी खाई को पाटने का प्रयास किया गया है।

अब 'त्रिजटा' मेरी नही, बल्कि समस्त पाठकों की है। इसे उन्हें सौंप कर मुझे खुशी हो रही है। अब मैं अपने उन साहित्यकार मित्रों और विद्वानों के प्रति आभार प्रकट करता हूँ, जिन्होंने किसी न किसी रूप मे इस काव्य-ग्रंथ को पूरा करने में मेरी सहायता की तथा अपना अमूल्य सुझाव दिया।

समर्पण

परम आदरणीय चाचा
स्व० श्री शिवकुमार चौबे को
जिनकी सत्प्रेरणा एवं आशीर्वाद से
यह जीवन-यात्रा प्रारंभ हुई।

अनुक्रम

□

□

प्रवेश

वंदन करूँ उस देश का
पलती जहाँ पावन प्रथा;
शिव ने जहाँ मानस रचा
हो राम - रावण की कथा।

जिसने धरा पर जन्म ले
पुरुषत्व की महिमा रखी;
वंदन करूँ उस वीर का
वीरत्व की गरिमा रखी।

ललकार करती हो जहाँ
नारायणी सेना खड़ी;
पूजूं चरण उस वीर का,
निर्भीक भरता चौकड़ी।

कुछ वीर ऐसे हों जहाँ
कि ओट ले ईश्वर लड़े;
नमनीय वह स्थल जहाँ
भगवान को झुकना पड़े।

जिस देश में ईश्वर विरथ,
नर युद्ध हो करता रथी;
वंदन करूँ उस वीर का
संकल्प जिसका सारथी।

काव्यावतरण

श्रुति बन कर बिखरी रामकथा,
संतों ने उसे बटोरा था;
जो कुछ कवियो ने पाया था,
वह अंश बहुत ही थोड़ा था।

रह गया शेष जो 'मानस' में,
हो सका न उसका आदि - अंत,
कवियों ने तब संकेत किया—
है 'हरि अनंत, हरि कथाअनंत।

कुछ ने कुछ कहा, सुना सबने,
कुछ कहना - सुनना शेष रहा;
पर कौन कहेगा कथा शेष
यह मेरा विषय - विशेष रहा।

पूर्वाग्रह से हो कर विभोर,
जो भक्त राम की कथा कहें;
वे भले समर्पित रामरंग,
पर शेष सत्य की व्यथा सहें।

मन में हो भाव समर्पण का,
हर क्रिया समर्पित होती है;
नयनो में बसता एक रंग,
तब दृष्टि सुनिश्चित होती है।

हैं, राम कथा के एक पक्ष,
संतों ने जिन्हें सराहा था;
उस प्रीति - रीति की धारा से,
भक्तों ने रत्न उगाहा था।

लेकिन रावण कितना दोषी,
कितनी दूषित लंका नगरी;
मुनि कुल पुलस्त्य की सोच - सोच,
होती है जिज्ञासा गहरी।

यह कौन करेगा अन्वेषण,
तज पूर्वाग्रह, होकर तटस्थ ?
यह कथा संतुलित कब होगी ?
कब होगा कोई कवि समर्थ ?

मैंने घर - घर लंका खोजी,
खोजा सरयू - साकेत सार;
ऋषियों - मुनियों की शरण गया,
सत्जन - सुधीजन के द्वार - द्वार।

जब कहीं न मन को मिली शांति,
क्या चित्रकूट, क्या पंचवटी;
तब मैं अशोक - वाटिका गया,
ले गई जहाँ थी नियति - नटी।

थी खड़ी अनुपम एक त्रिया,
सीता जिस स्थल रहती थी;
अपलक निहारती लंका को,
मुख राम - राम भर कहती थी।

सीता - निवास के रजकण को,
माथे से लगा - लगा रोती;

फिर उचक - उचक मरघट देखे,
रावण के लिए द्रवित होती।

उर में सीता, मुख राम नाम,
रग - रग स्वदेश की प्रीति भरी;
थी बड़ी दिव्य राक्षस - नारी—
पर क्यों अशोक - वाटिका खड़ी ?

रावण से इसका क्या रिश्ता ?
लंका के लिए बिलखती क्यों ?
सीता की सूनी कुटिया में,
यह राम - राम ही रटती क्यों ?

क्या उभय पक्ष की प्रीति भरी
यह ममतामयी सजल नारी ?
लड़ते - कटते दो प्रियजन की
देखी है रण लीला सारी ?

अब खड़ी ठगी - सी दर्द भरी,
दोनो दल की दुखिता जननी;
इस पार कभी, उस पार कभी,
झाँकती मूर्तिवत् मूक बनी।

इतना जिसका निष्कलुष हृदय,
निष्पक्ष कहेगी रामकथा;
शायद कुछ शेष - विशेष कहे,
किंचित उमड़े उर - सिंधु व्यथा।

यह ममतामयी, रहस्यमयी,
समता का बीज बपन करती;
जी करता गह कर पद पूछूँ—
क्यों दोहरा भार वहन करती ?

□

जिज्ञासा

कौन हो ?
कब से अकेली
हो खड़ी
करती प्रतीक्षा
क्या किसी प्रिय वस्तु की !

ममतामयी !
किस वेदना से
हो व्यथित
अपलक नयन
पथ जोहती किस जन्तु की ?

दृग - सिंधु की
गहराइयों के गर्भ में
छिप झाँकती
कैसी व्यथा इतिहास की ?

चेतना - अवचेतना के मध्य
मन की रीढ़ पर
करती वहन हो भार
किस संत्रास की ?

सूर्य की
पहली किरण पा
कीचड़ों में मुसकराती
क्या कमल का फूल हो ?

है बड़ा मुश्किल बताना
देख कर तुझको त्रिया;

तू तंत्र हो या मंत्र हो
या शांति हो या शूल हो।

नारी स्व - रूपों में
परम पूजित
अलंकृत माँ कि
कोई और —
अपरा शक्ति हो ?

फूटती किरणें
तुम्हारी देह से
ज्यों स्वर्ग से
उतरी धरातल पर
धरा की भक्ति हो ?

कौन हो ?
शिथिल, शोकाकुल खड़ी
इस वाटिका से देखती
क्यों एकटक
मरघट बने मैदान को ?

लुट गया सिन्दूर
या कि वीर सुत
या वीर कन्या कोख की
जूझी समर की भूमि में ?
फिर भी सृजन - सी
तू खड़ी हो देखती
अवसान को ?

तुम शत्रु की सुखदायिनी
या हो कहीं विषपायिनी ?
संकुल रहस्यों को संजोए

या किसी अन्वेषिका की
तुम चिरंतन चेतना हो ?

या तू कहीं पुरुषत्व के
अम्लान ऊँचे पर्वतों के
भार से दबते हुए
नारी हृदय की तलहटी में
सघन बिखरी वेदना हो ?

स्वर्ग के, अपवर्ग के
सत्कर्म औ' अपकर्म के
तुम मध्य में मंदाकिनी - सी
स्नेह - सलिला बह रही ?

कहना बहुत कुछ चाहकर
चुपचाप चिंतित - सी खड़ी,
बन कर विवशता नियति की
या मातृवत् सब सह रही ?

जीवन - मरण के सत्य पर
या युद्ध के औचित्य पर
वेदान्त - सूत्रों के विवेचन में
खड़ी कुछ सोचती ?
गहन अनुचिन्तन - मनन में
लीन मैत्रेयी कि गार्गी हो ?—

विषय की वेदना को
भाल पर आने नहीं देती
झटक कर आत्म - बल से
दूर उसको रोकती।

सृष्टि आँचल में दबा,
सागर छिपा कर नयन में,

दिति - वंश की बेटी
अदिति के वंश की
तुम रक्षिका हो ?

शेरनी - सी देह में
कोमल - कुसुम करुणा लिए
भू - देवि या असुरा
कि कोई यक्षिका हो ?

या अवध की चेतना,
संवेदना मिथिला की तू
खँड़हर बने इन
रत्न - महलों की सहज
सहभागिनी हो ?

दिखती जितनी निकट
तू नीति से, दुर्नीति से
उतनी अलग;
फिर भी अटल
निज देश की,
निज जाति की,
निज वंश की
अनुगामिनी हो।

मध्य में
धर्मी - अधर्मी के खड़ी
धर संतुलन की डोर को
निज बाहु से
कितने कठिन व्रत में
निरंतर लीन हो;

स्नेह देती
सत्य - पंथी शत्रु की संतान को,

सम्मान अपने राष्ट्र की
सत् नीतियों का,
तू करे---
तल्लीन हो।

कौन हो ?
बात जो भी हो,
मगर यह बात
तेरे लोचनों की
लालिमा की भंगिमा में
भाव बन कर झाँकती है;

खो कर बहुत
प्रिय पात्र या प्रिय वस्तु या प्रिय मित्र को
तू—
रिक्तता की वेदना से हो व्यथित,
अब स्नेह की धनराशि को
निज स्मृति की चिंतन - तुला से
आँकती हो।

या हो अवश निज वेदना से
या विवश निज चेतना से
मूक मूरत - सी खड़ी
इन भग्न मंदिर खँड़हरों के
नव सृजन का चित्र
नयनों में लिये
घनघोर चिन्ता - मग्न हो ?

या प्रतीक्षा - रत खड़ी
बदलाव की, नूतन घड़ी की
करवटो को;

कोख से जनमे हुए
निज पूत के छल - पाप से
विध्वंस बन रोते हुए
उन मरघटों को
देखती हो ?—भग्न हो ?

दृष्टि डाले
युद्ध के अवशेष पर
उन मृत जनों के वेश पर
या पाप पर या पुण्य पर
या हानि पर या लाभ पर
कुछ गणित - गणना
कर रही गंभीर हो ?

हार कर जीते हुए या
जीत कर हारे हुए पर
देश के द्रोही बने
निज पूत को
दुश्मन तरफ जाते हुए पर
कल्पना कुछ कर रही
मति धीर हो ?
कौन हो ?



अंतर्द्वन्द

पूछनी हर बात है
यद्यपि पुरातन रीति
फिर भी
बात की बुनियाद
बतलाई नहीं जाती;

कहता प्रवाहों की कथा
इतिहास है
पर
स्रोत गाथा शूर - सरिता की
कभी भी
कागजों के पृष्ठ में
पाई नही जाती।

ममतामयी माँ के लिए
क्या कोख की करुणा
कभी - भी
होंठ की भाषा बनी ?

उर में उमड़ते घन,
तड़पती
बिजलियों के बीच में
वह तो
युगों से है खड़ी
अविकल घनी आशा बनी।

रोती
स्वयं दुर्भाग्य पर
वह साधिका
निज साध्य पर
प्रकारान्तरों से जूझती
संतान की सुनती हुई;

सहती कभी
ढहती कभी
इतिहास की उलझन बनी
नारी - हृदय की वेदना के
विंदु को चुनती हुई।

आँख देखे
सत्य जो
भोगे हृदय
जिस वेदना को;

कह सकेगी
क्या जुबाँ
उस सत्य की संवेदना को ?

कान पर विश्वास कर
इतिहास जो लिखते रहे,
जो अर्द्ध सच को, गल्प को
संपूर्ण सच कहते रहे;

करते रहे इतिहास की
इति, संकलन - कर्त्ता, सखे।
उपहास बन कर रह गई
इतिहास की चर्चा, सखे ?

विक्रीत कलम की नोंक क्या
लिखती कथा इतिहास की।
तलवार - धारों से गुदी
यह वेदना उपहास की।

हर तथ्य जो नमनीय था
वह निम्न बन कर रह गया;
बहती लहू की धार में
जो तथ्य भी था, बह गया।

जिसने विजय कर ली समर
भुजजोर या छल - पाप से;
क्रेता वही इतिहाम का
प्रारब्ध के अपलाप से।

विजयी पुरुष के खड्ग की
इतिहास केवल म्यान है,
वह तुच्छ है, वह त्याज्य है,
वह सत्य का अपमान है।

यदि जय - पराजय की विधा
सच शूरता की माप है,
तो युद्ध की कौशल - क्रिया
छलमय - कपटमय पाप है।

संहार हो जिस युद्ध से
यदि एक भी निष्पाप का,
तो वह विजयगति तुच्छ है
शृंगार बन अभिशाप का।

निर्दोष हों निंदित जहाँ
वह न्याय का मंदिर नहीं,

केवल विजय - गाथा कहे
इतिहास वह सुंदर नही।

निंदास्तवन से रह विमुख
होकर तटस्थ विवाद से,
जो संतुलित अन्वय करे
निस्पृह विषाद - प्रमाद से।

भाषा वही शिव - सत्य हो
विश्वास का वाहक बने;
इतिहास की स्तुति - क्रिया
उपहास का कारक बने।

शासन करें जो देश पर
शासक सभी क्या श्लाघ्य हैं ?
यह तो नियति की क्रूरता,
इतिहास जिसके वाद्य है।

हैं पात्रता औ' प्राप्यता
दोनों पृथक् बातें, सखे !
रवि की ग्रहण - गति श्रेय
या आलोकमय रातें, सखे !

फल - प्राप्ति की गति प्रेयपद
पर श्रेय कर्मो की कथा;
इस नीतिपथ का त्याग ही
इतिहास की संकुल व्यथा।

कुल - पूर्वजों के पुण्य का
आलोकमय जो सूर्य है,
जो ज्ञान - गरिमा गेय है,
जो भी विपुल बल - वीर्य है,

बनता नहीं इतिहास का
सुंदर कलेवर वह कभी,
सब पृष्ठ उसके झूठ है
है त्याज्य वे तेवर सभी।

लिखना अगर इतिहास है,
लिख लो भले तलवार से;
लेकिन अहिंसा की कथा
पूछो लहू की धार से।

क्यों कोख वे सूनी हुई ?
सिन्दूर क्यों धोये गये ?
किस धर्म - रक्षा के लिए
विष - बीज थे बोये गये ?

निर्दोष कन्याएँ कलपती,
बालकों के वध हुए;
किन जन - हितों के काज में
अनगिन कपट औ' अघ हुए ?

बस कालखंडों का भ्रमित
पोथा विशद इतिहास है;
वह शक्ति का पूजक, समर्थक
कागजी बकवास है।

क्रीत भृत्य मुँह देखी कहे
करता फरेबों - सा रटन;
कैसे उसे सच मान लें
वायव्य जो वातिक वचन।

जिसकी भुजाएँ बलवती,
हिंसक हविस जिस क्रूर की;

इतिहास ने की वंदना
उस आततायी शूर की।

इतिहास के अक्षर नहीं,
ये सर्प हैं विषधर बड़े;
बीते समय की माँद में
है झूमते गेहुँवन खड़े।

कह, भूतकालिक इतिवृत्तों ने
मार्गदर्शन कब किया;
उनने भविष्यत् काल को
कब युग - सुदर्शन है दिया ?

वे सत्य के संग्रह नहीं
बस भूत का प्रतिनाद हैं,
बन चाटुकारों की रटन
इतिहास वाच्य - प्रवाद हैं।

पन्ने उलट इस ग्रंथ के
उनको जला दो जीर्ण जो,
पर साँप पोथी में न पालो,
फूँक दो हो शीर्ण जो।

जब राम-रावण की कथा
इतिहास मे आ जाएगी,
तब देख लेना साँच (?) की
सब धज्जियाँ उड़ जायेंगी।

राम भी रणनीति को
देकर प्रतिष्ठा, नत हुए,
यद्यपि सती के शोक में
अपमान से आहत हुए।

फिर भी लड़े थे शत्रु से
निज नीति - बल के जोर पर;
अपमान का बदला लिया था
राम ने दिल खोल कर

योद्धा वही जो हीन हो
अन्याय से, अपधर्म से,
गुण - दोष देखे शत्रु के
सुविवेक से, सत्कर्म से ।

वह नर पराक्रम का धनी
जो पाप - गिरि खंडित करे,
पापी पुरुष को पाप के
अनुरूप ही दंडित करे।

यद्यपि यथोचित दंड दे
वह पाप के अनुपात से,
पर स्नेह पापी से करे,
करता घृणा हो पाप से।

देता वृहत्तर दंड जो
लघु पातकी को रोष - वश,
वह न्याय में दोषी बने
हो निंद्य धर्मी क्रोध - वश ।

वह ही पुरुष नरश्रेष्ठ है
डिगता न जो नय - नीति से,
पर जीत ले पापी - हृदय
निज बाहुबल से, प्रीति से।

यह नीर - क्षीर विवेक ही
है मार्ग - दर्शक वीर का,

रणनीति के वृत्तचक्र में
यह लक्ष्य तरकश - तीर का।

इसके बिना बढ़ता नहीं
योद्धा अकेले युद्ध में;
प्रज्ञा - नयन का प्राण यह
होता विराट् प्रबुद्ध में।

इस बुद्धि - बल से राम ने
संग्राम रावण से किया,
देकर प्रशंसा शील को
था दंड विघटन का दिया।

छोडा नही पर नीति - पथ,
कर भी पसारा था नहीं;
देवों - नरों के द्वार पर
बल - हित पुकारा था नही।

नर राम बन लड़ता रहा,
था धर्म वीरोचित गहा,
उस वीर ने हर कष्ट को
हर पल अकेले ही सहा।

सीता - हरण के कृत्य से
थे राम अपमानित हुए,
फिर भी प्रशंसा वीर को
दे सहज सम्मानित हुए।

इतिहास बोलेगा नहीं
पर राम की इस नीति को,
बातें सभी दब जाएँगी
तज प्रीति की इस रीति को।

यदि युद्ध का जेता नहीं
धृति से, क्षमा से युक्त है,
तो वह विजय-गति निंद्य हो
हर दोष से संयुक्त है।

यह नीति-दृष्टि विवेक की
इतिहास अपनाता नहीं,
वह पूर्वजों के सत्य का
आलोक फैलाता नही।

'रावण कहाँ तक सत्य था,
वह था कहाँ दोषी हुआ;'
पूछो अवध के राम से
'वह वीर क्यों क्रोधी हुआ'?

क्या हानि? वह क्या लाभ था?
क्या प्राप्ति? क्या थी त्याज्यता?
रावण सहज प्रेरित हुआ
थी कौन उसकी बाध्यता?

पूछो पुलस्त्यों की कथा,
मुनि विश्रवा के ज्ञान को,
उस जाति की वंशावली,
पूछो परम पहचान को।

हैं राम सब-कुछ जानते
लेकिन बतायेंगे नहीं,
चेहरे बहुत दिख जायेंगे
परदा हटाएँगे नही।—

बातें उठेंगी अवध की,
आकाश की, पाताल की;

सुरपुर - जनकपुर की कथा,
कुल असुर की, दिक्पाल की;

कुछ राम की अपनी व्यथा :
दशरथ - मरण, सीता - हरण;
अबला - विरूपण की कथा,
लंका - दहन, रावण - मरण।

पर राम शीतल सिन्धु बन
जगहित जहर पीते रहे;
कर लोकहित विषपान भी
वे लोकहित जीते रहे।

इतिहास क्या बतलाएगा
इन गूढ़ तत्त्वों की कथा;
देखी - सुनी मैंने स्वय
श्री राम के मन की व्यथा।

लड़ता न रावण राम से
पर चक्र ऐसा चल गया;
द्रोही बने दर्शक खड़े
रावण अचानक छल गया।

वर्ना सुरासुर द्रोह मे
लंका कहाँ, सरयू कहाँ ?
यदि देव छल करते नहीं,
मुनिकुल कहाँ, रघुकुल कहाँ।

इस गूढ़ता के गर्भ मे
इतिहास जाएगा कभी ?
रावण धरा पर दोष से
क्या मुक्ति पाएगा कभी ?

मैं हूँ पड़ी इस सोच में
रोती कभी, हँसती कभी;
इस दग्धता के द्वैध को
सहती रही, कहती अभी।



नारी चिंतन

कितनी परत खोलूँ, कहो
मैं तत्व धन की चेतना की;
जीत कर रोती हुई रण में
विजय की वेदना की।

या फिर परत खोलूँ, कहो
उस हार के उल्लास की;
मर कर अमर होती हुई
उस स्वाभिमानी लाश की।

कौन कितना झूठ रे पूत,
कौन कितना साँच है ?
उलझन बनी मन की व्यथा
उर छेदती बन काच है।

माटी की मूरत की कहूँ,
या नर की, ईश्वर की कहूँ ?
कुछ कोख की करुणा कहूँ,
सस्वर अनीश्वर की कहूँ ?

है भक्ति - परिभाषा रची
जिस गोद ने—उसकी कहूँ ?
किसकी कहूँ, कितनी कहूँ ?
या बिन कहे ही चुप रहूँ ?

कुछ प्रश्न ऐसे बेधते
कि उलझनों में हूँ फँसी,
अब क्या कहूँ ? क्या न कहूँ ?
मैं दलदलों में हूँ धँसी ।

नारी समर्पित शील बन
हर युग पुरुष में खो गई,
संवेदना की मूर्ति वह
पर-वश, पराश्रित हो गई ।

जितने स्व-रूपों में रही
युग-वेदना जलराशि बन,
नारी - स्वरूपा ही दिखी
दृगकोर की धनराशि बन ।

ये युद्ध जितनी भी कहें
विध्वंस की निर्मम कथा,
नारी अकेली ही लुटी
त्रयलोक की बन कर व्यथा ।

देखो उठा कर दृष्टि तुम
क्या बालि-वध, रावण - हनन
वन-वन बिलखते राम हों
या अवध में दशरथ - मरण;

कृत अत्ययी गौतम-कथा
सुरलोक से सुरपति-पतन;
पाषाण नारी ही हुई,
अभिषंग से अभिशप्त बन ।

क्यों धर्म के अभियान में
थी ताड़का पहले मरी ?

पाषाण भोग्या देह बन
क्या गौतमी थी सच तरी ?

वन-वन भटकती जानकी,
अबला - विरूपण की कथा;
मंदोदरी - तारा रुदन
सब एक नारी की व्यथा।

कितनी कहूँ उस जाति की
जो शक्ति का सर्जन करे,
पर हो समर्पित स्वेच्छया,
अबला बनी रोती फिरे ।

कुछ पुरुष ने दोहन किया,
कुछ स्वयं दोषित हो गई;
है नियति या बल हीनता
जो स्वयं शोषित हो गई ?

नारी समर्पित कमलिनी बन
पुरुष की जलराशि के
गठबन्धनों के बीच में
विश्वास अवलंबन धरे
प्रिय-पंथ पर बढ़ती रही;

लेकिन सदा ऊबा, अघा कर
पुरुष-मन जल-तल घटा
होकर त्रिशंकु व्योम-वसुधा बीच में
विश्वास की विकलांगिनी
व्यथिता बनी ठगती रही।

ढोती कभी
सिन्दूर की संवेदना,

भरती कभी
आँचल-उदर की चेतना;
नारी तरल वाहन बनी
युग - युग छली, छलती रही।

अवचेतना, उप-चेतना,
नि:चेतना त्रय गति बनी
कन्या, सुहागन या अभागन
रूप धर
युग-युग ठगी, ठगती रही।

लेकिन विरूपित भाग्य का
इस दुर्दशा - दुर्भाग्य का
कह कौन है दायी अधिक
नारी स्वयं या पुरुष मन ?

मन से तरल
तन से विरल
सवेदना की प्रकृति
या परितोष का पोषक
पुरुष पाषाणपन ?

है प्रश्न यह जितना कठिन
उतना पुरातन औ' सनातन
और उत्तर भी कठिन;
गंभीर, गुरु, गह्वर गहन।

दोषी कहो, दायी कहो
युग - युग निलंबित प्रश्न को
जो भी कहो;
फिर भी अनुत्तर

और दुष्कर और
अति दारुण निवारण।

ढोती अमृत का कुंड
जो उर - मध्य में
म्रियमाण बन;
वह कौन - सी अनबुझ कथा ?
कैसी पहेली ? नाद है !

संवेदना से लुटती,
स्वचेतना से टूटती,
फिर भी सँजोये साध-सी
उर - बीच
जो दारुण व्यथा;
वह कौन - सा युग - सत्य ?
कैसा वाद है ?

रोना कठिन,
हँसना कठिन;
कहना कठिन,
सुनना कठिन—
नारी - हृदय की दग्धता
के द्वैध को सहना कठिन;
यह बात तो
युग - युग दबी,
युग - युग उठी।

कोमल कुसुम कन्या कभी,
सहधर्मिणी धन्या कभी,
संपूर्ण गरिमा से भरी
बन पूजनीया माँ कभी,—
रोती, बिलखती, कलपती

वन - वन बनी वन्या कभी;
यह बात तो
युग - युग चली,
युग - युग घटी।

सुंदर नहीं वह देश है
नारी निरादृत हो जहाँ,
ममता - दया की लाश पर
तृष्णा समादृत हो जहाँ।

किस पुरुष को उत्तम कहूँ,
मोहक कहूँ किस दृश्य को?
नारी - हरण को श्लाघ्य या
कन्या - विरूपण - कृत्य को?

चुप साध कर रहती, सखे!
बातें यही ढाती कहर,
कैसे कहूँ! मै हूँ विवश,
मुँह खोल कर जाना किधर।

ये प्रश्न ऐसे बेधते
कि मैं द्विधा से मौन हूँ;
इतिहास से आहत हुई
कैसे कहूँ—मैं कौन हूँ?

सबसे क्षमा हूँ माँगती
मैं मुक्तमन कर जोड़ कर;
नारी व्यथा - गाथा कहूँ
कुल - जाति सीमा तोड़कर।

जो खेल सुर - मुनि खेलते
युग - युग त्रिया से न्याय का,

उस कृत्य से आहत हुए,
पट खोलती विश्वास का।

जो करते अस्मत हरण
पर-पत्नी का कामी कुजन;
वे पूज्य कैसे रह गये,
क्यों मान सारे साधुजन?

लुटती रही नारी, पुरुष के
मान से, अपमान से,
होती रही युग-युग हवन
वह दक्षिणा से, दान से।

कोई न उत्तर दे सका
यह प्रश्न ही खलता रहा,
नारी अधोगति भोगती
दुश्चक्र ही चलता रहा।

जब लक्ष्मण वन को चले
गति उर्मिला की क्या हुई,
था राम ने चाहा नहीं,
क्यों कैकेयी दोषी हुई?

कोई बुरा माने नहीं
यदि सत्य ही भाषण करूं,
लंकेश का दुर्भाग्य या
मैं राम-दुख दारुण कहूं।

जिस देश में जनमी-पली
उस देश का वंदन करूँ;
हूँ रक्ष कुल नारी भले
मैं राम का सुमिरन करूं।

लंका नगर का बीज हूँ,
लंकेश की दुश्मन नहीं;
पर एक सीता के बिना
लगता नही है मन कही।

इस संतुलन की रीति को,
केवल त्रिया ही जानती;
उर में धरे माता - पिता,
पति को परमप्रिय मानती।

लेकिन सदा छलती रही,
संवेदना की राह में;
दुख भोगती ममतामयी
सुख भोगने की चाह में।

सुर - नर - असुर - किन्नर सहित,
मैं यक्ष - राक्षस की कहूँ;
नंगा जहाँ वर नर खड़ा,
उस निम्न पौरुष की कहूँ।

मुनि या सकल सुर जाति की,
यूँ ही कही जाती नही;
पर कुछ अधम की नीचता,
मुझसे सही जाती नहीं।

हर देश अथवा काल में;
हर जाति में, हर वर्ग में;
होते अवांछित, तत्त्व कुछ,
नरलोक में भी स्वर्ग में।

कैसे कहूँ सुर - मुनि भले,
उत्तम पुरुष, मध्यम त्रिया;

जब एक ने कन्या छली,
की दूसरे ने अघ - क्रिया ?

केवल अहल्या की कि,
मैं कुटिया - कमंडल की कहूँ;
मुनि पत्नी से गुरु पत्नी तक,
आकंठ दल - दल की कहूँ।

जब वृद्ध मुनि की बाहु में,
थी छटपटाती यौवना;
किस सत्पुरुष ने की वहाँ,
उस काल उसकी भर्त्सना ?

उस मुनि निरंकुश को कहो
अधिकार था किसने दिया ?
या फिर कहो सुर श्रेष्ठ ने
क्यों नीचता का अघ पिया ?

वैधव्य से असहाय थीं
मंदोदरी, तारा प्रखर;
दूषित किया जिनने उन्हें
कैसे बने पावन - प्रवर ?

पाकर शरणगति एक ने
मंदोदरी से अघ किया;
जिस दोष से बाली मरा,
सुग्रीव ने भी वह किया।

यदि था विभीषण पातकी
सुग्रीव भी कुछ कम नहीं;
माना कुकर्मी इन्द्र था,
पावन कहीं गौतम नहीं।

ऐसा घृणित पातक करे
पापी कहा जाता वही;
फिर भी उठा कर सर चले
मुझसे सहा जाता नहीं।

लेकिन समर्थों की कथा
किसने सुनी, किसने कही;
पापी बने पावन फिरें
फिर भी नहीं फटती मही।

कुकरम किया था इन्द्र ने
अपराजिता पत्थर हुई;
क्यों गाज लंका पर गिरी,
लंकेश की दुर्गति हुई?

दोषी अगर कोई हुआ
नारी - हरण के पाप से,
तो शील - विघटक बच गए
किस पुन्य फल या जाप से?

किस न्याय का ऐसा गणित?
आचार यह किस धर्म का?
निर्दोष क्या 'समरथ' पुरुष
दायी नही वह कर्म का?

पर कौन उनको दंड दे
जिनको शरणगति है मिली?
ढहता सदा तरुवर खड़ा
है जब कभी आँधी चली।

तृण - तुल्य जो तल पर बिछा
ढोता चरण का भार है,

उसमें कहाँ द्रुमता बची
खंडित - पतित जो डार है?

वट वृक्ष की छाया तले
यद्यपि हरा रहता सदा;
पर श्वान धर्मी ही बना
नर मध्य में वह सर्वदा।

दोषी भले हो जाय पर
झुकता न बलशाली कभी;
इतिहास है कहता उसे
रावण कभी, बाली कभी।

निश्चित पर वह शूरमा
रणभूमि में जीया - मरा;
गिरगिट बना बंचक भले
निर्लज्ज हो रहता हरा।

जननी, जनम की भूमि को
यदि इष्ट भी ललकारता—
पथ रोक दे योद्धा, मगर
कायर शरणगति माँगता।

जीवन - मरण के मध्य मे
दीवार पौरुष की खड़ी;
यह अस्मिता ही वीर की
होती नियामक हर घड़ी।

इसके बिना जीता नही
पुरुषार्थ का वह मानधन;
चाहे गरजता सिंधु हो
या टूटता सारा गगन।

रक्षा करे वह रुद्र सम
प्रहरी बना पुरुषत्व का;
चाहे मरे, चाहे जिये
स्वस्तिक वही अमरत्व का।

जो लाभ का पूजक, पतित
युग से वही धोखा करे;
कितनी कहूँ उस नीच की
वह व्यर्थ ही जिये - मरे।

युगधर्म के व्यवहार में
लेकिन विषमता क्यों पली?
कामी - कुजन जिंदा बचे
मारे गये क्यों नर - बली?

यह प्रश्न उत्तर माँगता—
हूँ सोचती मैं क्या कहूँ;
संशय सहित विस्मय कहूँ
लीला कहूँ या चुप रहूँ?

होती पुरूष की यह प्रकृति
हर देश में, हर काल में,
शोषित हुई नारी सदा
फँस कर गणित के जाल में।

सीता - अहल्या दो भले
सुरपति वही, रावन वही;
मुनि वेश में दोनों खड़े
कुटिया वही, कीर्त्तन वही।



पूर्व कथा

पूछो न व्यथा की बात, तात !
वेदना बड़ी इस मन में है;
आहत अंतर, है प्राण शेष,
चेतना शेष तड़पन में है।

जो हृदय प्रीति में पागल हो,
उस पागल मन की व्यथा कहूँ ?
जो व्यथा प्रीति से उभरी हो,
उस व्यथा-स्रोत की कथा कहूँ ?

रोने दो मुझको लगातार
रहने दो मुझको यही खड़ी,
छेड़ो न हृदय के भग्नतार,
घुमड़न रहने दो दबी पड़ी।

मैं किस अतीत में डूबी हूँ ?—
पहचान न उसकी पूछो तुम;
जो व्यथा मुझे सुख देती है
परिमाण न उसका पूछो तुम।

होती कुछ व्यथा बड़ी मधुमय
संचित धनराशि, अमोल रतन;
छाती से उसे लगाते हम
संतान सदृश, कर घोर जतन।

वल से उसको बाहर न करो
है व्यथा हृदय में पलती जो,
खोदा न करो उस माटी को
पीड़ा अतीत की ढँकती जो।

होती है बड़ी प्रबल ममता
निज जन्मभूमि की, जननी की;
आँचल की शीतल छाँव और
मोहक मनुहारें बचपन की।

जितना कुछ कहो, शेष बचता,
इन दो निधियों की झोली मे,
यह माटी है अनमोल रतन,
अनमोल प्यार इस बोली में।

निज गाँव-नगर का बड़ा मोह
पुरवासी और पड़ोसी का,
शैशव में खेले बन्धु संग
कण-कण मे बिखरे मोती का।

जो जन्मभूमि को धोखा दे,
जननी से जो छल करे, नीच,
वह पापी महा नराधम है,
गेहुँवन बन जनमे जीव बीच।

मैं इस माटी में जनमी हूँ,
मुझको माटी से अमित प्यार;
मैं इसी वंश की बेटी हूँ,
है मुझे गर्व उस पर अपार।

हो जाए व्यक्ति जो नीच अगर,
माटी न नीच हो जाती है;

गोदी मे पैदा हो कपूत,
दोषी न गोद हो जाती है।

एक ही कोख से कई पूत
जनमें हतभागी, बड़भागी;
राजा, तो कोई रंक बने
कोई वैरागी - अनुरागी ।

माँ की ममता में दोष नहीं,
माटी में दोष नही होता,
रवि की किरणों मे ताप सही,
पर उनमें रोष नही होता।

तेरे प्रश्नों से दारुण दु:ख
उठ गए हृदय की पोर - पोर;
उघरी अनंत विस्मृत बातें
दिखता न कहीं भी ओर छोर।

लेकिन दुख का इतिहास, बंधु !
अनकहा अगर रह जाएगा;
जग जानेगा कैसे रहस्य
जब मर्म नहीं खुल पाएगा।

इतिहास दुखद कहती हूँ अब
सुनना तू देकर ध्यान, सखे !
आँसू क्यों मेरे नयनों में
तुम कर लेना अनुमान, सखे !

लका मे बसी सुनयना हूँ,
त्रिजटा है मेरा नाम, सखे !
सीता की मानस माता हूँ,
जो अब तक रही अनाम, मखे !

धरती ममता की बनी कोख,
सीता-सा बीज पड़ा उसमें;
वह महाशक्ति गर्भस्थ हुई
जीवन का रूप खिला जिसमें।

हो गये बिकल थे साधु-संत,
असुरों ने किया पाप भारी;
मुनिजन ने करके रक्तदान
भर दिया कनकघट बरियारी।

गाड़ा था उसको मिथिला में
करके अभिमंत्रित बीज-रक्त
यह वही कलश था तेज भरा
जिससे प्रकटी सीता सशक्त।

वह वेदवती कुशध्वज-कन्या
वेदज्ञ वृहस्पति पोती थी;
रावण से बदला लेने का
युग से संकल्प सँजोती थी।

जब तपोनिष्ठ ब्राह्मण - कन्या
थी घोर तपस्या-लीन खड़ी;
दुर्बुद्धि दशानन की उस पर
वासना - भरी थी दृष्टि पड़ी।

सारे प्रयास चुक गये, किंतु
रावण ने हार नही मानी;
लेकर 'कन्या ने पुनर्जन्म
रावण - वध की मन में ठानी।

हो गयी अग्नि में भस्म स्वतः,
पर दिया शाप उसने भारी;

थी वही शक्ति शोणित-घट में
कुशध्वज की कन्या सुकुमारी।

था लगा उबलने कनक - कलश
भीतर धरती के गड़ा - गड़ा;
सूख गये मेघ, धरती भूखी,
मिथिला में घोर अकाल पड़ा।

तब स्वर्णधातु का फाल चढ़ा
मिथिला - नरेश ने हल जोता;
फूटा धक्के से कनक - कलश
जिसमें था शक्ति - बीज सोता।

सोने की लंका दहन - हेतु
वह स्वर्ण - कलश में बैठी थी;
सोने का फाल चला उस पर,
वह स्वर्ण - धार - सी ऐंठी थी।

धरती का गर्भ फाड़ निकली,
घट में बैठी वह महाकाल,
प्रकटी सीता का रूप धरे
वह महाशक्ति बन महाज्वाल।

पाला सस्नेह जनक ने था,
उसको बेटी का प्यार दिया,
बन गई सुनयना माँ उसकी,
ममता का अमित दुलार दिया।

माता का पावन धर्म पाल
छाती का सुधा पिलाया था,
वह आँचल भी हो गया धन्य
देकर सीता को छाया था।

था देव - रक्त उसका कारक,
धरती सीता की जननी थी;
वसुधा का भार हरण करने
वह महाशक्ति बन जनमी थी।

तन से फूटी थी अग्नि - ज्योति,
चहुँ दिशि प्रकाश भर आया था;
जब तेज त्रिया का रूप धरे
धरती से बाहर आया था।

उस पल रावण का तेज घटा,
हिल गई नींव थी लंका की;
छाई वदरी नभ - मंडल में
भीषण दहशत की, शंका की।

सीता के उभय रूप सुंदर,
उसकी दो माताएँ जग में;
मिथिला में सती सुनयना ज्यों,
वैसी त्रिजटा लंकागढ़ में।

लेकिन विडंबना मत पूछो,
मैं दो पाटों के बीच पड़ी,
सीता पलती है पलकों में
उर में लंका की प्रीति भरी।

उस ओर प्रीति है सीता की,
इस ओर जाति की, जननी की,
रति उधर राम के चरणों में
इस ओर देश की, धरती की।

यद्यपि सीता की माता हूँ,
फिर भी बेटी इस माटी की;

दोनों ही रीति निभानी थी—
माँ की, कन्या - परिपाटी की।

धरती से जन्म लिया उसने,
योजना जन्म के पूर्व बनी;
पल - पल के रेखाचित्र और
जीवन की कथा अपूर्व बनी।

क्या मिथिला और अयोध्या क्या,
क्षण - क्षण की कथा सुयोजित थी;
दंडक वन की लीला सारी,
पल - पल की व्यथा नियोजित थी।

मिथिला मे जनक - प्रिया जैसी
लंका में त्रिजटा वैसी थी;
माता का अमित दुलार लिए
आँचल फैलाए बैठी थी।

विधि का विधान क्या कहूँ और
क्या भेद सुनयना - त्रिजटा में—
उसके घर सीता थी प्रसन्न,
मेरा संग बीता विपदा में।

माता की अपनी ममता की
हर बेटी उलझन होती है;
नयनों की वह चंचल पुतली
घर - घर का गौरव होती है।

छाती से लग कर जो सोती
अपनी माँ की गुड़िया रानी,
वह छोड़ स्नेह का द्वार चले
जब पिता बने कन्या - दानी।

कैसी विडंबना, भाग्यफेर
छाती की ममता दान बने;
बेटी जैसा अनमोल रतन
अपनी माँ का मेहमान बने।

है बडी सुनयना भाग्यवती,
सीता - सी बेटी पायी थी;
ममता का दिया दुलार और
छाती कर विदा जुड़ायी थी।

शशि की सुषमा - सी जनक - सुता
बनती जाती थी पूर्णरूप;
वढता हो पुण्य हृदय - सर में
ज्यों कर्म - कमल पावन स्वरूप।

कन्या अयोनिजा थी सीता
वह शक्ति - बीज - सी बढती थी;
शिव - चाप पड़ा जो पिता - गेह
नित उसकी पूजा करती थी।

कर में सभक्ति वह चाप उठा
धनु - वेदी लीपा करती थी;
उस गहन चाप का भार - वहन
हँस कुसुम - भार - सा सहती थी।

सीता की अद्भुत शक्ति देख,
मन में विदेह चकराते थे;
कहते थे उसे 'वीर्यशुल्का'
पुलकित वात्सल्य लुटाते थे।

निज नयन देख वह महाशक्ति
सस्नेह जनक ने ठाना प्रण;

‘शिव-चाप चढ़ाये वीर वही
कर सकता इसका पाणिग्रहण’।

विधि के मानससुत कश्यप ने
वन मे घनघोर तपस्या की;
हो ध्यान मग्न अनवरत जाप
संग में प्रियतमा अदिति ने की।

होकर प्रसन्न उस जप-तप से
थे प्रकट हुए भगवान वहाँ;
प्रभु को सुत-रूप में पाने का
उनने पाया वरदान जहाँ।

कश्यप ने दशरथ देह धरी,
कौशल्या अदिति - रूप माता;
जनमे थे अवध बीच जाकर
‘भगवान राम’ जग के त्राता।

तोड़ा था शिव का चाप
और ब्याहा सीता सुकुमारी को;
उस ब्रह्म राम ने लीला कर
अपनाया जनक दुलारी को।

पितु - वचन मान वन गए राम
उनके संग सीता, वीर लखन;
रावण से वैर पनपने का
लीला प्रदेश था दंडक वन।

दशमुख-विनाश का कारण बन
सीता बन गई निराली थी;
फँस गया दशानन व्यूह बीच
उसने जब युक्ति निकाली थी।

लेकिन ये कहने की बातें,
क्या वेदवती, भगवान राम;
कर्मो से कथा यहाँ बनती,
होती जीवन में सुबह्-शाम।

जो बुद्धिवाद के पोषक है
करते अदृष्ट की बात नही;
तर्को पर साधें सत्य और
कहते हैं दिन को रात नही।

केवल कर्मों की बात करें,
तथ्यो पर तर्क किया करते;
युगपुरुष सदा युग में जीते
भूतों में नही जिया करते।

हर व्यक्ति पिता का पुत्र और
अपनी माँ की संतान बने;
कर्मो की कथा पृथक करती,
कर्मो से रावण - राम बने।

अपना विवेक संबल बनता.
भुजबल उर में विश्वास गढ़े;
कर्मो के फल से व्यक्ति यहाँ
पाताल धँसे, आकाश चढ़े।

क्या हानि - लाभ या यश - अपयश,
हर व्यक्ति कर्म का दायी है;
कोई निजहित समुद्र मथता,
कोई जगहित विषपायी है।

प्रतिफल कर्मो का गढ़े भाग्य,
गढ़ता जीवन - इतिहास वही;

भुजबल से भुवन - भरण होता
वीरों का है विश्वास यही।

क्या वंश - गोत्र, क्या भाग्य चक्र,
सब धरे - पडे रह जाते हैं,
कर्मों पर जो विश्वास करें
वे व्यक्ति अपर बन जाते है।

होता न स्रोत नदियों का है
वीरों की जाति नही होती;
गढ़ता भुजबल इतिहास स्वयं
शेरो की मॉद नहीं होती।

वह देश और वह काल धन्य
जिसने बल को सम्मान दिया,
करता न भूत की बात कभी,
हॅस वर्त्तमान का मान किया।

जो घन सावन की लाज रखे
वह स्यात् मचाता शोर नहीं;
वह नीच जाति की बात करे
जिसकी जॉघों में जोर नहीं।

यदि पूर्वजन्म की बात कहें
तो लोक - तत्व का क्या होगा?
लंका - मिथिला की रीति - नीति,
साकेत - सत्य का क्या होगा?

अच्छा हो युग की बात करें,
हम छोड़ें पूर्वकथा सारी;
रावण की सीधी बात करें,
संदर्भ राम हों धनुधारी।

थे राम अवध के राजपुत्र,
सीता मिथिला की बेटी थी;
बस कथा यही प्रारंभ हुई,
दुनिया ने आँखों देखी थी।

रावण की भी है पूर्वकथा
लेकिन वे बातें व्यर्थ, सखे!
हम वर्त्तमान की बात करें
पूर्वाग्रह घोर अनर्थ, सखे!

त्रेता की बात तत् क्षण हो?
बातें हों वीरों के बल की;
कर्मों की कथा चली कैसे?
बातें हों सत् की, संबल की

था रचा द्वेष का उत्स जहाँ
जब थे टकराए युगल वीर;
बातें प्रारंभ वही से हों—
था बहा जहाँ से नयननीर।

जिस थल नारी की नाक 'कटी,
जिस थल अबला का हरन हुआ;
बातें प्रारंभ वहीं से हों—
जिस थल पौरूष का पतन हुआ।

क्या पाप-पुण्य या 'राज-काज
सहभागी सदा विभीषण था;
क्यों छोड़ चला था रावण [को
क्या हरण पाप ही भीषण था?

इसके पहले जो किया कृत्य
रावण ने अखिल भुवन भर में,

क्यों रहा विभीषण संग - संग
ले धनुष - वाण अपने कर में ?

हम क्यों नीचों की बात करें
जो घात देश से करते है ?
स्वारथ - सिंचन की सोच - सोच
गिरगिट - सा रंग बदलते हैं।

बातें हों केवल वीरों की
जो देश - धर्म की आन रखें;
चल पड़ें जिधर संकल्प - सहित
अपनी विशेष पहचान रखें।

पावन प्रदेश दंडकवन था
राक्षस वीरों की कर्मभूमि;
कैसे बन गई अपावन वह
ऋषियों - मुनियों की तपोभूमि ?

परिवार - कलह से आहत हो
वन - वन में राम भटकते थे;
इसमें रावण का दोष कहाँ,
वे तो अपनों की सहते थे।

लंका - प्रसंग जिस काल जुड़ा—
कुछ तो उसका कारण होगा,
निष्पक्ष विवेचन किए बिना
कैसे दोषी रावण होगा ?

जब पाप - पुण्य की बात चली
हम मूल प्रश्न की बात करें;
पूर्वाग्रह से पीड़ित होकर
क्यों किसी पक्ष से घात करें।

युद्ध बीज

सर्वांग सुंदरी शूर्पणखा
पौलस्त्यवंश सुकुमारी थी;
रावण की भगिनी सगी और
लंका की राजकुमारी थी।

मुनि पिता विश्रवा तपोनिष्ठ
कैकसी राजमाता जननी;
लाड़ली वीर भ्राताओं की
वह थी अनन्य मोहक तरुणी।

करता दुलार था कुंभकर्ण
अतिप्रिय बलवान विभीषण की;
थी भाग्यशालिनी शूर्पणखा
पुतली आँखों की रावण की।

उस राजवंश की कन्या ने
शैशव दुलारमय पाया था;
हो गई चंचला बचपन से
जीवन स्वतंत्र अपनाया था।

जब विद्युज्जिह्व दानवसुत को
पति के स्वरूप में चयन किया;
मच गई खलबली लंका में
जब शत्रुवंश का वरण किया।

ऐसी प्रतिक्रिया भयंकर थी
विचलित लंका के वीर हुए;
हिल गए विभीषण, कुंभकर्ण
मन-ही-मन परम अधीर हुए।

रावण ने भी था मना किया
पर शूर्पणखा ने हठ ठाना;
प्रिय पास गई वह अश्मदीप
था नहीं वंश-बंधन माना।

युग-युग के दुश्मन कालिकेय,
वे रक्षवंश अवरोधी थे;
चलती रहती थी खींचतान,
लंका के प्रबल विरोधी थे।

इस ओर मोह था भगिनी का,
उस ओर वंश संमान खड़ा;
इन दो पाटों के संकट में,
लंका का वीर महान पड़ा।

उत्तम पुलस्त्य कुल की बेटी
वह रक्षवंश की गरिमा थी,
व्याहा था दानव नीच वर्ण,
घट गई वंश की महिमा थी।

आखिर छेड़ा था प्रबलयुद्ध
रावण चढ आया अश्मदीप;
हत हुआ युद्ध में था दानव,
बुझ गया प्रिया का प्राणदीप।

लुट गई नवोढ़ा शूर्पणखा
माथे का भरा सुहाग लुटा;

रोये थे रावण - कुंभकर्ण
था प्रिय भगिनी का भाग फूटा।

अनुजा विधवा हो गई किन्तु
कुल का संमान बचाया था;
देखर दानव को प्राण दंड
उनने असह्य दुख पाया था।

पर शूर्पणखा की दशा देख
रावण था बहुत द्रवित होता;
रहता मन मे अपराध - बोध
बरबस अपनी सुध-बुध खोता।

था दिया सांत्वना-धैर्य और
लेकर आया था दंडक वन;
धीरे - धीरे भूल गई व्यथा
पाकर प्रकृति - सान्निध्य सघन।

होता परिवर्त्तन सहज देख
रावण प्रसन्न कुछ हो जाता;
फिर भी असमय वैधव्य सोच
भावी चिंतन मे खो जाता।

दे दिया अंत में राज्यभार
उसको सुरम्य दंडकवन का;
सुखमय अपार संपदा और
रक्षण प्रवीर खर - दूषण का।

पतिहीन भले ही शूर्पणखा
फिर भी सम्मोहक युवती थी;
बन के पुलस्त्य कुल की गरिमा
दंडकवन विचरण करती थी।

पतिचयन उसे फिर करने को
रावण ने भी संकेत दिया,
वह राजवंश की कन्या थी,
क्वांरापन उसे निषेध किया।

शासिका जहाँ की शूर्पणखा
यह वही घोर दंडकवन था;
राक्षस कुल का सीमा प्रदेश
सम्राट यशस्वी रावण था।

थी यहीं राम की पंचवटी
मुनिवर अगस्त्य का आश्रम था;
ऋषियों - मुनियों की तपोभूमि
पावन प्रदेश दंडकवन था।

विचरण करती वन शूर्पणखा
संयोग ! गई थी पंचवटी;
देखे दो सुंदर दिव्य युवक
उर में थी सद्यः प्रीति उठी।

हो गई विमोहित रक्षसुता
उनकी अनन्य छवि को नीहार,
लेकर परिणय - प्रस्ताव सहज
थी गई स्वयं तब साधिकार !

उर में अदम्य उत्साह भरा,
नारी स्वभाववश सजधज कर,
थी शूर्पणखा लावण्यमयी
चल पड़ी सहज बनठन सुन्दर।

वन-क्षितिज छोर पर तड़ित - सरिस
क्यों उघर रहा अरुणाभ - वदन;

ऋतुराज चकित—है महक उठी
क्यों पंचवटी ज्यों चंदन-वन ?

यह कौन सुंदरी कामवल्लि
मन की आँखों में उतर रही ?
इसके मुखमंडल को नीहार
क्यों मनस्चेतना बिखर रही ?

बढ़ती सलज्ज प्रिय के पथ पर
झुकती नितंब के भारों से,
धीरे-धीरे क्यों खेल रही
मेरी रग-रग के तारों से ?

क्यों रूप देख दिनकर अदीप्त,
दंडक वन में क्यों शाम ढली;
अभिसार - पंथ ले दीपमाल
यह रसवंती किस धाम चली ?

अंकिनी बने यह रूपराशि
वह कौन पुरुष सौभाग्यवान,
धरती पर सेज कहाँ बिछती
तानता कहाँ अंबर वितान ?

रति की अनन्य मोहक प्रतिमा,
या वन - कन्याओं की रानी;
क्या कही अप्सरा अलका की
चल पड़ी पहन साड़ी धानी ?

इसका सम्मोहक कटि प्रदेश
छन - छन कर विरल हुआ जाता;
क्यों इसकी चंचल चितवन से
तपसी-तन तरल हुआ जाता ?

लम्बी ग्रीवा, घन केश राशि
होठों में अमृत का प्याला;
क्यों जघन प्रांत का स्वर्ग - सिंधु
लहरे उदग्र हो मतवाला ?

वन में वसंत क्यों बिखर गया,
कामद बयार क्यों बहती है ?
ऋतुओं की अविकल रीति तोड़
यह कन्या कौन उघरती है ?

सौंदर्य - सरित में लहर-लहर
करते नितंब नौका - विहार;
प्रोषित पतिका - सी काम - विकल
करती चलती रग - रग प्रहार।

उद्दाम कामना से प्रदीप्त
क्यों पंचवटी की ओर चली;
है कौन पुरुष जोहता वाट
जो सुधि शरीर की छोड़ चली ?'

यूँ देख प्रकृति की विकल दशा
शंका सीता उर छाई थी;
संकेत राम को किया और
भीतर कुटीर मे आई थी।

हो गए सजग थे पहरे पर
सौमित्र हाथ में ले निषंग;
तब तक पहुँची थी शूर्पणखा
मधुरस छलकाती अंग - अंग।

ऊर्जित उरोज, कटिबंध और
मोहक मुखमंडल, नाक - कान;

रमणी की चंचल चितवन से
हो उठे लखन भी विकल प्रान।

क्षण में चेतन मन चेत उठा
यद्यपि प्रकटी विकराल घड़ी;
उस ओर सुन्दरी वह अनिंद्य
इस ओर कुटी में सृष्टि खड़ी।

प्रस्ताव किया जब परिणय का
हो उठे अचानक मौन राम;
सीता के मन का भाव भाँप
शायद उर में आया विराम।

या लखनलाल का रूप देख
मन में अरुचि बढ़ आई थी;
सहसा अनुराग भरे मन में
कुछ घृणा कहीं भर आई थी।

अग्रज का उखड़ा रूप देख
खींचा लक्ष्मण ने था कृपाण;
रोती रह गई सुघर कन्या
पर काटा निर्मम नाक - कान।

दंडक वन की स्वामिनी और
वह राजवंश की कन्या थी;
पतिवरण नहीं पातक उसका
वह सक्षम वीर वरण्या थी।

हो प्रणय - निवेदन पाप भले
पातक परिणय - प्रस्ताव नहीं;
थी मर्यादा में शूर्पणखा
उसके मन बसा कुभाव नहीं।

बरबस विनोद की वस्तु बनी
था तरुणों ने अपमान किया;
तब शूर्पणखा ने आहत हो
अनहित करने को ठान लिया।

हो नाक-कान से हीन और
खोकर खर-दूषण शूरवीर;
आई लंका में शूर्पणखा
तन से विकृत, मन से अधीर।

पावन प्रदेश दंडवन की
यह लीला बड़ी अपावन थी,
कहना है कठिन दोष किसका
परिणति पर नही सुहावन थी।

आँखों देखी दुर्दशा और
रावण ने सभा विसर्जित की,
था सन्न रह गया रक्षवीर
मन-व्यथा नहीं पर चर्चित की।

था पड़ा अकेला शयनकक्ष.
कुछ घड़ी पीसता रहा दाँत;
कुल की मर्यादा सोच-सोच
हो उठा बीरवर था अशांत।

"जिस रक्षवंश संमान हेतु
मैंने लूटा इसका सुहाग;
अपराध-बोध से मुक्त हुआ
देकर दंडक का राजभाग।

हो गया विफल प्रायश्चित भी
लग गई आग दंडक वन में;

यह वड़ी अभागन शूर्पणखा
कैसे मैं धीर धरूँ मन में?

कुछ नहीं विरुपण सहज बात
यह रक्षवंश की नाक कटी;
रावण जिस कुल का शीर्ष व्यक्ति
उस कुल की है मर्याद घटी।

ऋषियों-मुनियों ने चाल चली
द्रोही अगस्त्य दंडक वन का;
झेलेगा अब रघुवंश मगर
प्रतिशोध भयंकर रावण का।

जिसने भी किया कुकर्म दुखद
परिणाम बड़ा भीषण होगा;
रावण बढ़ता प्रतिशोध-पंथ
अब वंश-वंश का रण होगा।

भावी तू बड़ी कुटिल, निष्ठुर
रावण का क्रोध जगाया क्यों?
कुछ पता नहीं कल क्या होगा
ऐसा अनर्थ घहराया क्यों?

लंका में बैठूँ मौन अगर,
सम्मान वंश का क्या होगा?
कायर कहलाऊँ वीरों में
परिणाम अंत में क्या होगा?

पर नहीं, नहीं, सौ बार नहीं,
रावण बदला अवश्य लेगा;
जिसने यह पाप जघन्य किया
प्रतिफल उसको अवश्य देगा।

'हे महादेव ! हे कुल देवी।
हे तात विश्रवा ! मुनि पुलस्त्य
धरती के सारे वीर और
सुन लें दंडकवन के अगस्त्य।

इस रक्षवंश की बेटी का
जिसने भी है अपमान किया;
उस नीच, विधर्मी, वंचक ने
हर रीति - नीति बलिदान दिया।

यह शूर्पणखा अपमान नहीं,
अपमान देश का, जननी का;
मुनिकुल पुलस्त्य का तेज और
इस वीरवंश की धरणी का।

चाहे नर हो या नारायण,
वह वंचक जितना भी महान
सौगंध शंभु की मैं लेता —
छोड़ूँगा कर निस्तेज प्राण।

यदि स्वयं विष्णु रण में कूदें
फिर भी छोड़ूँगा जान नहीं;
सौगंध विश्रवा की लेता—
प्रतिशोध बिना विश्राम नही।

जिसने मेरा अपमान किया,
उस कुल का नाम मिटा दूँगा;
सौगंध कैकसी की लेता—
छठी का दूध पिला दूँगा।

नारी का बदला नारी से
लेगा रावण, संसार सुने;

यह वंश - वंश का रण होगा
सब लोक धर्म, आचार सुने !

है किया विरूपण कायर ने,
फिर भी मर्याद निभाऊँगा;
जिस भी नारी का हरण करूँ,
मैं उसकी लाज बचाऊँगा ।

संकट का यह घनघोर काल
लकेश स्वयं निर्णय लेता;
प्रतिफल का दायी स्वय और
सर पर सब पाप - पुन्य लेता ।

अब क्षमा करो हे कुल देवी ।
रावण के प्रण का पुन्य - पाप;
जो भी होगा, भीषण होगा,
दंडक वन समझे स्वयं आप ।

चल पड़ा विकल हो रावण था
लेकर मरीचि को दंडक वन;
थी जान न पाई लंका भी
कब हुआ अचानक सीया - हरण ।

मच गई खलबली मुनियों में
दंडकवन हाहाकार मचा;
रावण ने जब प्रतिशोध लिया
षड्यंत्र बड़ा विकराल रचा ।

लेकिन वह नैतिक हरण न था;
वह तो वीरों का धरम न था ।
धर साधु रूप, झोली पसार;
लंकेश गया था स्वय हार ।

कर समर युद्ध में हर लाता;
रावण वीरों में यश पाता
थी यही भूल रावण ने की;
वीरों में अपनी पत खो दी।

प्रतिशोध भावना से भरकर;
सीता को लाया था हर कर।
कर गया भयंकर पाप यही;
धर गया कुपथ पर लात यही।

वर्ना उसमें कुछ दोष न था
किंचित कुकर्म प्रतिशोध न था।
दुर्भाग्य, वीर ने पथ छोड़ा;
वीरों का प्रकृत नियम तोड़ा।

बढता विनाश धीरे - धीरे
मन में विषयों का अंकुर बन;
लिप्सा है बड़ी ललित लगती
जो पतन - पंथ का आदि - चरण।

तब प्राप्ति भावना से प्रेरित
नर कामवशी हो जाता है;
विघ्नों से होता क्रोध प्रकट
मन मध्य मोह भर जाता है।

पाकर भी इच्छित वस्तु, अगर
नर कामतृप्ति से वंचित हो;
तब क्रोध अग्नि बन कर भड़के
जलता है पुन्य अरक्षित हो।

यह क्रोध मोह की जननी है
करता जो स्मृति का प्रसव नष्ट;

मर जाता कुल का संस्कार
हो जाती नर की बुद्धि भ्रष्ट।

बनता विषयों का बंदी नर
हन्ता विवेक का स्वयं वही;
कर काल चक्र का आवाहन,
दायी विनाश का स्वयं वही।

तब शांति और संतोष, सखे!
सब पुण्य और सत्कर्म सभी;
पल में विनष्ट हो जाते हैं,
पर जीव न समझे मर्म कभी।

रावण की दुर्गति यहीं हुई,
था भाग्य यहीं पलटा खाया;
हो गया नष्ट उसका विवेक
जब मन में मोह उमड़ आया।

जब सूर्पणखा की कटी नाक,
विचलित लंका का वीर हुआ;
हिल गया हृदय से दशकंधर
मन-ही-मन परम अधीर हुआ।

माना उसमें कुछ दोष सही,
वह पाप-पुण्य का मिश्रण था;
ऋषियों-मुनियों को कष्ट दिया,
वह उग्र वृत्ति का ब्राह्मण था।

भय खाते उससे इन्द्र-वरुण,
दिक्पाल-देव थर्राते थे;

उसका भुजबल आतंक भरा,
दुश्मन उससे घबराते थे।

लेकिन उसमें थे गुण महान
अन्तस् की बात बताती हूँ;
मैं रक्षवंश की बेटी हूँ
रावण की कथा सुनाती हूँ।

क्या वैर राम - रावण में था
क्या द्रोह अयोध्या - लंका में ?
सोचो प्रारंभ कलह का तू
बिन बहे भावना - शंका में।

है उत्स एक जब सूर्पणखा
थी रामरूप पर रीझ गई,
पोती पुलस्त्य की पतिहीना
अपमान - भाव पर खीझ गई।

पर यह तो है सहजात चरित
हर राजवंश की कन्या का,
होती स्वाधीन स्वयंवर में
वर - चयन न दोष वरण्या का।

फिर क्यों पावन दंडकवन की
थी भूमि रक्त से रंगी गई ?
कर क्रूर विरूपण कन्या का
क्यों प्रीति रीति से ठगी गई ?

नारी - वध होवे क्षम्य भले,
होता न विरूपण कभी क्षम्य,
पौरुष का सबसे घृणित पाप,
धरती का यह पातक जघन्य।

कुलवधू और कुल की बेटी
सम्मान वंश की होती हैं,
इनके अपमानों की आँधी
विध्वंस विश्व का ढोती है।

इस घृणित पाप की लपटों ने
सरयू में आग लगा दी थी,
वन - वन बिलखे रघुवंश - पूत,
मिथिला की हँसी उड़ा दी थी।

देवता न आए काम और
ऋषियों ने भी मुँह बंद किया;
कुल - कन्या का अपमान देख.
मुनिवर पुलस्त्य ने क्रंद किया।

फिर चले प्रबल प्रतिशोध - चक्र
लंका की नींव हिला डाले;
बज गई ईंट से ईंट और
वीरों का नाम मिटा डाले।

नारियाँ दुखी दोनों कुल की,
पुरुषों में हाहाकार मचा;
सरयू सागर भिड़ गए और
त्रेता का त्रासद वार रचा।

माना, मिथिला की बेटी का
था पाप हरण अति निंदनीय;
लेकिन पुलस्त्य की कन्या का
था कहाँ विरूपण वंदनीय?

दो घोर अघों का साक्ष्य बना
दंडकवन अब भी रोता है;

नारी - विदग्धता का पातक
लज्जित - सा सर पर ढोता है।

जिस तपोभूमि के आँचल में
ऋषियों ने धूनी रमाई थी;
अनसूया ने जिस प्रांगण में
देवों को पलन झुलाई थी;

शबरी - सी धर्मपुंज नारी
करती थी हरिगुण - गान जहाँ;
आए थे जिसके द्वार राम,
झुक गये धरा के धाम जहाँ;

बसते तपसी, वन - जीव और
थी जहाँ सुशोभित पंचवटी;
शासिका जहाँ की शूर्पणखा,
सीता की पूजित पर्णकुटी,

जिसने देखा शरभंग - अत्रि,
झेला खर - दूषण का प्रहार;
वह दंडकवन भी सहम गया
जब बढा विरूपण - हरण भार।

नारी - विडंबना, पुरुष - कुत्स
जब सीमाओं को तोड़ चलें;
बच सके न कुछ भी शेष श्लाघ्य
नर से नरता मुँह मोड़ चले।

मैं कितनी कहूँ कथा दुख की,
किसको कुरूप, अभिराम कहूँ ?
रावण को दोषी कहूँ अगर,
निष्कलुष कहाँ मैं राम कहूँ ?



राम का मनस्ताप

लौटे जब वन से राम - लखन
देखी सूनी कुटिया वीरान;
हो गए सन्न थे दृश्य देख,
हो उठा विकल, बेचैन प्रान।

रो उठा राम का रोम - रोम
कुछ क्षण थे मौन अवाक् खड़े;
तिर गया विरूपण आँखों में
कुछ प्रश्न हृदय में स्यात् गड़े।

जो थी शंका—हो गया वही
निश्चय सीता का हरण हुआ;
पूछती प्रश्न ज्यों शूर्पणखा—
'कब से मृग कंचन - वरण हुआ ?

मर्यादा का धनवान पुरुष
क्यों था मर्यादा तोड़ चला,
जो पुरुष स्वयंवर का पोषक
क्यों दंडकवन मुँह मोड़ चला ?

मिथिला में मर्दों का मेला,
क्यों धनुषयज्ञ अनुठान हुआ ?
क्या शूर्पणखा ने पाप किया
जो था उसका अपमान हुआ ?

था प्रश्न घुमड़ता बार - बार—
अबला पर हाथ उठा कैसे ?
परिणय - प्रस्ताव कहाँ पातक,
पर घोर अनर्थ हुआ कैसे ?'

'रे लक्ष्मण, यह क्या हुआ
कुछ भी कहा जाता नहीं;
यह क्षोभ का बढ़ता जहर
मुझसे सहा जाता नही।

रघुवंश का पौरुष घटा
मिथिला पराजित हो गई,
रामत्व की गरिमा लुटी,
सीता निराश्रित हो गई।

अब व्यर्थ यह कहना लगे—
मैं अवध का अभिराम हूँ;
सहधर्मिणी संकट सहे,
कैसे कहूँ मैं राम हूँ ?

नारी - विरूपण क्या हुआ,
रघुकुल विरूपित हो गया;
इस कर्मफल के कुड में
सब कुछ समर्पित हो गया।

देखो नियति की क्रूरता,
हम दोष के दायी बने;
रोपे जहर का वृक्ष जो
वह, सत्य—विषपायी बने ?

जो कर सके रक्षा नही
अर्द्धांगिनी के स्वत्व का;

वह पति नहीं, कापुरुष है,
धिक्कार उस पुरुषत्व का।

यह चेतना चुभती बड़ी
मैं ग्लानि से कब तक गलूँ ?
इस हीनता की आग में
रे लक्ष्मण ! कब तक जलूँ ?

सीता - हरण दुष्कांड का
दायी, किसे दुश्मन कहें;
यद्यपि अधर्मी शत्रु है
क्या मित्र दंडकवन कहें ?

सीता कलप कर रह गई
क्यों पंचवट डोला नहीं;
सारा तपोवन था यहीं
निर्लज्ज क्यों बोला नही ?

जड़वत् खड़े तपसी सभी,
थे देवता दर्शक बने;
किस भाँति शुभचिंतक कहूँ
जब मौन ये वंचक बने ?

ऐसे नपुंसक लोग पर
विश्वास मैं करता नही;
रघुवंश ऐसे कायरों का
संग है धरता नही।

किंचित् पता लग जाय जो
सीता कहाँ त्रैलोक में;
सौगंध है रघुवंश की
लाऊँ उसे क्षण एक में।

निज बाहुबल के जोर से
संमान लौटाऊँ नहीं
सौगंध तेरी लक्ष्मण ।
मैं राम कहलाऊँ नहीं ।

यमराज भी चाहे अगर,
प्रण तोड़ वह सकता नहीं;
रघुवंश की क्रोधाग्नि से
वह नीच बच सकता नहीं।'

कहते हुए बढने लगे
पथ पर प्रिया को खोजते;
वन में विलखते राम थे,
रह - रह नियति को कोसते।

कोई बताया था नहीं
गिरिवर - गुहा, तरुवर खड़े;
वनजन, विहग भी मौन थे
सब साधुजन निःस्वर पड़े।

उस घोर संकट काल में
कितने अकेले राम थे;
मिलती नहीं थी सुधि, कही
लेते नहीं विश्राम थे।

टूटी कहीं निस्तब्धता
संयोग इक झुरमुट हिला,
आहत जटायु गीध जब
था राम को मग में मिला।

विथके जहाँ ऋषि - मुनि सभी
लोहा लिया था गीध ने;

अंतिम क्षणों तक था लड़ा
इस निम्नवर्गी वृद्ध ने।

पाई इसी से राम ने थी
जानकी की सुधि कहीं;
इसके सिवा वन बीच आया
काम कोई भी नही।

सुग्रीव से सहयोग पा
थे राम लंका चढ़ गये,
अपमान से आहत - विकल
संग्राम - पथ पर बढ़ गये।

सेना सजग हो राम की
रणनीति में संलग्न थीं,
था युद्ध का पूर्वाचरण
सम-दम गणित में मग्न थी।

उस ओर रावण - सैन्य भी
रण योजना में व्यस्त था;
जो पूर्वकालिक युद्ध विद्या
का सहज अभ्यस्त था।

मंदोदरी की रामपूजा

संयोग - वश ही चक्रवत्
उस काल कुछ विस्मय हुआ;
रणभेरियों के मध्य में
था स्नेह का समुदय हुआ।

मंदोदरी ममतामयी थी
राम की पदचारिणी;
लंकेश से कहने लगी
निर्भीक मन - अधिकारिणी।

'यद्यपि तुम्हारे शत्रु, लेकिन
राम मेरे इष्ट हैं,
उनके चरण के धूलकण—
मेरे प्रसाद - अभीष्ट हैं।

प्रभु राम की पदवन्दना की
साध है मन में जगी,
पति हो—इसे पूरी करो
मंदोदरी कहने लगी।

होगा समर फिर बाद में
पूजा करूँगी मैं प्रथम,
सहधर्मिणी की साध यह
पूरी करो तज कर अहम्।

हे प्रिय, मरम मैं जानती
दुष्कर बड़ा यह कर्म है,
रणभेरियाँ हैं बज उठी
अब टेरता रण - धर्म है।

है सज गई सेना उभय
कुछ खेल भीषण रण नहीं,
यह जय - पराजय काल है,
संवेदना का क्षण नही।

फिर भी अनुग्रह तुम करो
मंदोदरी के मानधन,
यह साध मेरी अति प्रबल
पूरी करो लंका - रतन।

क्या है असंभव ? कुछ नही,
तुम भुजबली, तुम तपबली;
इस यज्ञ को पूरा करो,
युग से लगन मन में पली।

जब तक अवधि वनवास की
पुर - द्वार लाँघेंगे नहीं,
पूजा सजे बहिरंग गढ़,
वे दोष मानेंगे नहीं !

मंदोदरी की बात सुन
रावण हुआ गंभीर था,
कुछ सोचने मन में लगा
सहसा सजल वह वीर था।

क्यों था सजल रावण हुआ
यह बात दबकर रह गई;

लेकिन प्रिया की साध सुन
यह साँच—आँखें भर गईं।

पति - धर्म से प्रेरित हुआ
दशशीश तब हँसने लगा;
मंदोदरी को प्यार से
भर अंक में कहने लगा—

"मयसुता, बहुत अब देर हुई;
बस चलता नही अबेर हुई।
उठ गये तूफान गगन पसरे;
प्रतिशोध - अग्नि मन बीच जरे।

अब रात बड़ी अंधियार हुई;
बढ़ चली नाव मझधार छुई।
मैं स्वयं चढ़ा उस पार चला;
भुज बीच पकड़ पतवार चला।

उठ रहे सिंधु में प्रबल ज्वार;
है नहीं सूझता आर - पार।
छा रही अँधेरी रात, प्रिये!
कुछ पता नही कब प्रात, प्रिये!

है बीच सिंधु में नाव पड़ी,
अरि की ग्रीवा पर आँख गड़ी।
कह, कैसे रोकूँ नाव वहाँ;
चलते सम - दम के दाँव जहाँ।

रुकता न वीर बढ़ जाय अगर,
चाहे बढ़ बरजे सिंधु घहर;
वीरों की होती रीति, प्रिये!
कुछ युद्ध - काल की नीति, प्रिये!

है बड़ी जटिल यह रीति - नीति,
करती न शत्रु से कभी प्रीति।
दशशीश अनीति नहीं गहता;
दुश्मन को मीत नही कहता।

निज भुज - बल वैर बढाता जब,
अरि में दहशत फैलाता तब।
करती पूजन की बात वहाँ,
चल रहे घात - प्रतिघात जहाँ।

मैं करता अमित दुलार तुझे,
वारता हृदय का प्यार तुझे।
लेकिन विलंब से साध कही,
जब युक्ति न मेरे हाथ रही;

तब कही बात पद - वन्दन की,
जब लगी आग मन में रन की
अरि की सेना गढ़ घेर खड़ी,
कह कैसे टालूँ युद्ध - घडी।

अब सिवा समर कुछ शेष नहीं,
रण, प्रिये ! प्रीति का देश नही।
जो बीत गई सो बात गई,
या सुबह गई या रात गई।

आ गई परीक्षा रावन की,
अब बात कहाँ मनभावन की ?
चल रहे घात - पर - घात बहुत,
दुश्मन की टेढ़ी जात बहुत।

यह महा समर की वेला है,
अरि भ्रमित—काल से खेला है !

तुम एक बार दिल खोल कहो.
'जय जन्म - भूमि !' मुँह खोल कहो।

रण - घोष करूँ बढ़ बीच गगन,
दहले त्रिलोक, दहले दुश्मन;
रावण रण - बीच दहाड़ चले,
अरि - दल की छाती फाड़ चले।

कर रही प्रतीक्षा कर्म - भूमि,
है बाट जोहती जन्म - भूमि।
होने दो अंतिम महा समर,
चाहे जीतूँ या बनूँ अमर।

लेकिन तू कहती बात बड़ी,
कर रही प्रीति रण बीच खड़ी।
तू अमित शक्ति इस रावण की,
घर - आँगन की, वन की, रण की।

कैसे अथाह मन - द्वन्द्व सहूँ,
क्या कहूँ और क्या नहीं कहूँ।
किस भाँति बुलाऊँ दुश्मन को,
कर सकूँ पूर्ण पद-पूजन को;

हो विनत शत्रु के पद धोऊँ?
क्या वीरों की गरिमा खोऊँ?
इस पार समर, उस पार प्रीति,
मैं गहूँ कौन - सी युद्ध - नीति।

लेकिन प्रिये ! अर्धांगिनी !
कल युद्ध जब छिड़ जाएगा,
कहना कठिन किस घाट तक
वह शत्रु बह कर जाएगा।

अतएव घड़ियाँ जो बचीं,
जो भी मुहूरत शेष है,
करता समर्पित हूँ तुझे,
यद्यपि जटिल परिवेश है।

ऐ वीर कन्या, वीर माता,
वीर की सह-धर्मिणी,
पूरी करूँगा साध यह,
हो संगिनी - महगर्विणी।

तेरे अभीप्सित यज्ञ को
पूरा करूँगा मै प्रथम,
होगा समर अब बाद में
पहले निभेगा पति - धरम।

रावण भुजा के जोर पर
करता प्रतिज्ञा ले शपथ,
निज सहचरी की साध - हित
पग डालता प्रतिकूल पथ।

यद्यपि तुम्हारी कामना
सिद्धांत के विपरीत है,
फिर भी इसे स्वीकारता
यह पति - हृदय की प्रीति है।

पर सोचता प्रस्ताव यह
किस भाँति भेजूँ राम तक,
दुर्बल न दिखना चाहता
निज शत्रु के अवसान तक।

लेकिन हमारा प्रण अटल
निश्चय न तोड़ूँगा कभी,

हो क्लेश कितना भी अधिक
प्रण को न छोड़ूँगा कभी।

पूजा करोगी तुम प्रिये,
उसको यहाँ तक लाऊँगा;
विधि - शंभु भी यदि रण करें
प्रण पूर्ण कर दिखलाऊँगा।'

तब इन्द्रजित बलवान को
उसने बुलाया था वहाँ,
मंदोदरी की साध से
अवगत कराया था जहाँ।

माँ की अनूठी प्रीति लख
वह वीर रोमांचित हुआ,
छू कर चरण को स्नेह से
'कुछ' सोच आनंदित हुआ।

सोचे पिता की प्रखरता,
माँ की मधुरतम प्रीति की;
सुतधर्म चिन्तन में पड़ा,
सोचे कभी नय - नीति की;

बढ़ते हुए दुश्मन सबल
घिरते हुए गढ़ की कभी,
आपात स्थिति काल की,
कुल - धर्म की, रण की कमी।

मंदोदरी की साध में
बैठे सबल विश्वास की,
माँ की, पिता के रूप में
सोचे धरा, आकाश की;

कुछ वीर राक्षस - वंश की,
कुछ देश के अभिमान की,
फैले चतुर्दश लोक में
दशशीश के संमान की।

जब वीर दुविधा मे पड़ा
था, सोचने फिर - फिर लगा,
सहसा उठी प्रज्ञा - लहर
वह सिंह सोते से जगा।

निज भुज उठा कहने लगा
'इच्छा करो तू माँ अगर,
सारा गगन झुक जाएगा,
थम जाएगी सागर - लहर।

राम तो क्या, विष्णु भी
संकेत पर आ जाएँगे,
जो तुम कहो तो शिव स्वयं
कैलाश को तज धाएँगे।

निज धाम से ब्रह्मा चलें,
बैकुंठ आंदोलित करूँ;
जननी! तुम्हारी साध - हित
कह, सिंधु उद्वेलित करूँ।

पितुश्री अगर संकेत दें
मैं सूर्य - मंडल रोक दूँ,
यदि तू कहे, ब्रह्मांड को
पल में रसातल फेंक दूँ।'

मंदोदरी तब कह उठी—
'रे लाल, तेरी जय रहे;

यह साध मेरी शुद्ध है,
इसमें न कुछ संशय रहे

है भक्त - मन की भावना
पावन परम आचार है;
उत्तेजना तो त्याग दे,
यह धर्म का त्यौहार है।

पति ने किया आश्वस्त है,
पूजन करूँगी पद - कमल;
यह है सुहागन साध सुत,
तू व्यर्थ ही मत हो चपल।

पति प्रिय स्वयं लंकेश है,
ऐसी सुहागन कौन है;
मेरे सबल सिन्दूर - सा
कह और पावन कौन है।

कर्त्तव्य जो पति - धर्म का
पति ही निभायेगा उसे,
रे कोख - धन ! रह शांत चित्त,
दुर्बुद्धि मत मन में बसे।

कर्त्तव्य - पथ से हो विमुख
पति - धर्म जब छल जायेगा,
तुझको पुकारूँगी रतन,
आँचल सुहाग बचायेगा।

कर शील औ' संयम वरण
मेरा यही उपदेश है,
जब तक न पूजूँ हरि - चरण,
सुन ले यही निर्देश है।"

रावण विहँसने था लगा
सुनकर प्रिया के प्रिय वचन,
था इन्द्रजित भी चुप हुआ
माँ के खरे सुनकर कथन।

छँटने लगे थे द्वन्द्व - घन,
चलने लगी चिन्तन - क्रिया,
मन - मध्य में थी कौंधती
प्रतिबद्धता की प्रक्रिया।

मंदोदरी की प्रीति से
प्रतिबद्ध संकल्पित हुआ,
पति - धर्म के सँभार से
वह वीर उत्कर्षित हुआ।

था सोचने फिर - फिर लगा
हर नीति मंत्राचार को,
संयत स्वरों में बुदबुदा
हर वर्त्म को, व्यवहार को।

तब स्वस्तिकासन बैठकर
मसि - पत्र ले उद्यत हुआ,
कर में कलम को थाम कर
पति - बोध से अति नत हुआ।

लिखने :लगा था खत स्वयं
रावण महा गंभीर हो,
रुकती कलम रह - रह मगर,
करता जतन मति - धीर हो।

देने लगा ध्वनि शब्द को
करने लगा रचना सरस,

हर पंक्ति में, हर वाक्य में
भरने लगा था प्राण - रस।

जब प्रीति - पाती शत्रु को
रण रोक था •लिखने लगा,
हलचल हुई थी अस्त्र - गृह
जब था कलम गहने लगा।

"पौलस्त्य कुल की वर - वधू
गरिमा सुमाली वीर की,
इस स्वर्ण - गढ़ की स्वामिनी,
माँ इन्द्रजित रणधीर की,

शुभशीलता की जाह्नवी
लंकाधिपति की सहचरी;
श्रीपद कमल की साधिका
मय की सुता मंदोदरी;

युग - युग अपरिमित भक्ति से
कुछ भाव मन में पालती;
हरिपद - कमल की प्रीति में
प्रतिनिष्ठ हो लय डालती।

सद्प्रीति की इस रीति में
विभ्रम नही, संशय नहीं;
मंदोदरी की भक्ति पर
किंचित् कही विस्मय नही।

नारी - विरूपण जो करे
कैसे उसे नर - वर कहूँ ?
छिप तीर मारे व्याध - सा
कैसे उसे ईश्वर कहूँ ?

भ्रम में पड़ी मय की सुता
है विष्णु तुमको मानती;
यद्यपि निरर्थक मान्यता
फिर भी अटल हठ ठानती।

पूजा करेगी राम, यह
तेरे चरण की प्रीति से;
लंकेश्वरी के भाव का
आदर करो तू नीति से।

तुमको लिवाने के लिए
रावण निहत्था आएगा;
स्वागत करेगा स्नेह से
संशय नहीं रह जाएगा।

पति - धर्म से प्रेरित हुआ
मेरा निमंत्रण - पत्र यह;
नय - नीति से स्वीकार कर
खत भेजता है शत्रु यह।

प्रतिभाव शिष्टाचार से
निःशस्त्र आना है तुझे;
बनकर अतिथि लंकेश का
सद्कीर्त्ति पाना है तुझे।

संकल्प यह दश शीश का—
वह फिर लड़ेगा नीति से;
मंदोदरी की साध, पर
पूरी करेगा प्रीति से।

अतएव पूजा - पूर्व, रावण
वार कर सकता नही,

वह पत्नी - व्रत से बाध्य है,
अपकार कर सकता नहीं।

जब तक न तुम लौटो शिविर
पद पूज ले मंदोदरी,
रावण समर को टालता,
है रोकता सेना खड़ी।

संदेश - वाहक भेज दो
यह शर्त यदि स्वीकार है;
रावण प्रतीक्षा कर रहा
रोके समर का ज्वार है।

स्वीकार जो कर लो सहज
चल कर स्वयं मै आऊँगा;
पद पूज ले मंदोदरी तो
फिर शिविर तक जाऊँगा।

कर्त्तव्य - वश रावण कहे—
कुछ पल समर को रोक दें
है प्रीति के पल अटपटे
मय की सुता को तोष दे।

तेरी सुरक्षा के लिए
रावण स्वयं देता वचन
बन राम ! तू निर्भय अतिथि
करता प्रतिज्ञा हूँ गहन।'

दशशीश की पाती सजग हो
राम जब पढ़ने लगे,
हिलने लगा था तन अचल,
झर - झर नयन झरने लगे।

जब भक्ति लख कर झुक गया
रघुनाथ का भी भाल था।

करते प्रशंसता शत्रु की—
'तुम धन्य रावण, वीर हो
जो संगिनी की आन पर
तजते कुटिल तसवीर हो।

पाकर सुखद इस पत्र को
मैं भावना-अभिभूत हूँ,
स्वीकार सारी शर्त कर
हर रूप में प्रस्तुत हूँ।

मंदोदरी की साध को
पूरा करूँगा प्रीति से,
सौगंध लाऊँ जानकी
पर बाहुबल, रणनीति से।

नि.शस्त्र लंका द्वार पर
पूजन मुझे स्वीकार है,
मैं तो सुरक्षित सर्वदा
हर शर्त अंगीकार है।'

दृढ़ निश्चयी श्री राम ने
मन में किया निश्चय तभी,
पढ़ने लगे थे पत्र तब
सुनने लगी सेना सभी।

विस्मय हुआ सुग्रीव को,
क्रोधित लखन बरबस हुए;
कह 'चाल दुश्मन की कुटिल,'
सहसा सजल परवश हुए।

वह पत्नी-व्रत से बाध्य है,
अपकार कर सकता नही।

जब तक न तुम लौटो शिविर
पद पूज ले मंदोदरी,
रावण समर को टालता,
है रोकता सेना खड़ी।

संदेश-वाहक भेज दो
यह शर्त यदि स्वीकार है;
रावण प्रतीक्षा कर रहा
रोके समर का ज्वार है।

स्वीकार जो कर लो सहज
चल कर स्वयं मै आऊँगा;
पद पूज ले मंदोदरी तो
फिर शिविर तक जाऊँगा।

कर्त्तव्य-वश रावण कहे—
कुछ पल समर को रोक दें
है प्रीति के पल अटपटे
मय की सुता को तोष दें।

तेरी सुरक्षा के लिए
रावण स्वय देता वचन
बन राम ! तू निर्भय अतिथि
करता प्रतिज्ञा हूँ गहन।'

दशशीश की पाती सजग हो
राम जब पढ़ने लगे,
हिलने लगा था तन अचल,
झर-झर नयन झरने लगे।

भ्रम में पड़ी मय की सुता
है विष्णु तुमको मानती;
यद्यपि निरर्थक मान्यता
फिर भी अटल हठ ठानती।

पूजा करेगी राम, यह
तेरे चरण की प्रीति से;
लंकेश्वरी के भाव का
आदर करो तू नीति से।

तुमको लिवाने के लिए
रावण निहत्था आएगा;
स्वागत करेगा स्नेह से
संशय नही रह जाएगा।

पति - धर्म से प्रेरित हुआ
मेरा निमंत्रण - पत्र यह;
नय - नीति से स्वीकार कर
खत भेजता है शत्रु यह।

प्रतिभाव शिष्टाचार से
निःशस्त्र आना है तुझे;
बनकर अतिथि लंकेश का
सद्कीर्त्ति पाना है तुझे।

संकल्प यह दश शीश का—
वह फिर लड़ेगा नीति से;
मंदोदरी की साध, पर
पूरी करेगा प्रीति से।

अतएव पूजा - पूर्व, रावण
वार कर सकता नही,

मंदोदरी की प्रीति लख,
दशशीश का धर्माचरण,
रघुवर सहज पुलकित हुए—
है भक्ति की गरिमा गहन।

कितने सबल सब वाक्य थे।
कितनी सहज थी भावना!
क्या ही अटल वह प्रीति थी!
कमनीय थी वह कामना।

जो वीर रस मन था पगा,
वात्सल्य रस भरने लगा;
उस वीरवर के नयन से
सावन सुखद झरने लगा।

सीता-हरण जिसने किया
प्रतिशोध-वश अनरीति से,
वह वीर पाती भेजता
मंदोदरी की प्रीति से!

कुल की प्रतिष्ठा, मान-हित
जो राम लंका चढ़ गये,
विध्वंश अरि-कुल हेतु जो
गढ-द्वार पर थे अड़ गये;

वे सोचने पुनि-पुनि लगे,
मंदोदरी की प्रीति को;
झुकने लगे श्रीराम थे
संमान दे कर रीति को।

कितनी अपूरब वह घड़ी,
कितना अलौकिक काल था,

जब भक्ति लख कर झुक गया
रघुनाथ का भी भाल था।

करते प्रशंसता शत्रु की—
'तुम धन्य रावण, वीर हो
जो संगिनी की आन पर
तजते कुटिल तसवीर हो।

पाकर सुखद इस पत्र को
मैं भावना - अभिभूत हूँ,
स्वीकार सारी शर्त कर
हर रूप में प्रस्तुत हूँ।

मंदोदरी की साध को
पूरा करूँगा प्रीति से,
सौगंध लाऊँ जानकी
पर बाहुबल, रणनीति से।

निःशस्त्र लंका द्वार पर
पूजन मुझे स्वीकार है,
मैं तो सुरक्षित सर्वदा
हर शर्त अंगीकार है।'

दृढ़ निश्चयी श्री राम ने
मन में किया निश्चय तभी,
पढ़ने लगे थे पत्र तब
सुनने लगी सेना सभी।

विस्मय हुआ सुग्रीव को,
क्रोधित लखन बरबस हुए;
कह 'चाल दुश्मन की कुटिल,'
सहसा सजल परवश हुए।

सीता - चरण को धर हृदय
वह वीर तब कहने लगा,
मन में उठा आक्रोश जो
वह अश्रु बन बहने लगा।

'हे भ्रातृवर, यह क्षण नहीं
भगवान बनने का रहा,
इन राक्षसों की चाल में
यह काल फँसने का रहा।

बन कपट - मृग, कपटी यती
रचते रहे दारुण विपद,
अब 'विष्णु' कह छलने चले
कर भक्ति का नाटक वृहद्।

अपमान कर रघुवंश का,
सीता सती का कर हरण,
अब यज्ञ करने वे चले
कर भक्त जन का पथ वरण!

विध्वस्त कर यह स्वर्णगढ़
निर्मूल राक्षस - कुल करें,
संकल्प लें प्रतिशोध का,
पश्चात् इसके कुछ करें।

अग्रज ! तुम्ही सीता - पति,
तुम अवध के अभिराम हो;
रघुवंश के संकट - क्षणों में
राम केवल राम हो।

अपमान का बदला न लें
निज बाहुबल से जीत रण,

सीता समादृत हों नहीं,
वापस न हो समान - धन,

तब तक नहीं अधिकार है
भगवान होने का तुम्हें,
रघुवंश के संमान से
खिलवाड़ करने का तुम्हें।''

आक्रोश के सौंदर्य मे तब
राम कुछ झुकने लगे,
सौमित्र को दे सांत्वना
गंभीर मन कहने लगे।

'रे प्रिय अनुज ! तू स्नेह - धन,
हो प्रीति के प्रिय पारखी;
तू छाँह बन तिल - तिल जले,
रघुवंश की गरिमा रखी।

संचेतना के संतरी, दृढ़
युग - पुरुष युगधर्म के;
रे उर्मिला के तपरतन !
बन सारथी सत्कर्म के।

नारी - हृदय की साध में
शंका नहीं, सुंदर लखन !
छल से, कपट से भीत हो,
क्या त्याग दें शुभ आचरन ?

आक्रोश से महिमा घटे
बल - तेज होता क्षीण है;
उत्तेजना से, क्षोभ मे
हर वीर होता हीन है।

धृति से, क्षमा से हीन तो
तेजस्वियों में तेज क्या ?
शुचि शीलता, मृदुता नही—
सत्पुरुष में संवेग क्या ?

अति उग्रता, उद्विग्नता
ही धीरता के दोष हैं;
दृढ़ निश्चयी आवेगवश
लाते न मन में रोष है।

दे प्राण प्रण पालन करो—
रघुवंश की यह रीति है;
पर प्रीति से पिघला करो—
यह वीर कुल की नीति है।

भगवान तो घट - घट बसे
वह शून्य से आता नहीं;
है पारखी का प्राप्य वह
पूर्वाग्रही पाता नहीं।

है शत्रुता लौकिक, लखन !
यह मुक्ति का साधन नही;
श्रद्धा - विनय से, भक्ति से
कुछ भी यहाँ पावन नही।

उद्विग्नता की बात तो
दुर्भाग्यप्रद है, त्याज्य है;
अनुदात्त मन की भावना
मध्यम पुरुष का प्राप्य है।

हम वीरवंशज — धीर वर !
आक्रोश पर संयम रखो;

तुम वीर माँ के लाल हो
निज शक्ति पर प्रत्यय रखो।

वैरी अगर कुछ माँगता
तो शंभु-सम अवढर बनो;
तुम प्रीति से पिघला करो
अप्रीति पर पत्थर बनो।

दम्भी दशानन के लिए
जो भी कहो--सब अल्प है;
वह व्यर्थ घन की गर्जना,
वह विप्रवादी गल्प है।

है वह अजित अब तक रहा
मंदोदरी के धर्म मे;
मुनि विश्रवा के पुण्य औ'
निज पूर्वजों के कर्म से।

मंदोदरी की प्रीति-वश
आतिथ्य मैं स्वीकारता;
रघुवंश की ही रीति यह
संकट समय मैं धारता।'

राम की यह नीति सुन
करके श्रवण दृढ़तर वचन;
सेना तभी पुलकित हुई,
नत मौन थे विस्मित लखन।

लेकिन रखी थी शर्त यह
प्रभु-संग जाने के लिए—
'हरदम लखन हो साथ ही
लघुता निभाने के लिए'

यह सुन विहँस कर राम ने
सस्नेह आलिंगन किया,
'रे प्राण-प्रिय तुम धन्य हो,
आखिर हमें सुखमय किया।

छाया हमारी बन लखन
तुम आपदा मे छाँह हो,
तेरे बिना बल-हीन मैं,
तुम ही हमारी बाँह हो।

संदेश भेजा राम ने
स्वीकृति का लंका नगर,
मंदोदरी हर्षित हुई,
विस्मित हुआ रावण मगर।

होने लगीं तैयारियाँ
तब राम के आतिथ्य की,
गढ़द्वार था सजने लगा
बढ़ने लगी छवि दृश्य की।

बेदी बनी, तोरण बँधे,
भर दूब-अक्षत थालियाँ,
चन्दन - सुमन - घृत - दीप
औ' सजने लगीं जौ - बालियाँ।

थी हवन को समिधा जुटी
औ' यज्ञ-शाला सज गई,
मदोदरी के वास - हित
थी पर्णशाला बन गई।

लंका बनी थी राम-मय,
कितना सुखद वह काल था!

निज पत्नी इच्छा - पूर्ति में
दशशीश उन्नत भाल था।

मज्जन - हवन - पूजन किया,
मस्तक तिलक करने लगा;
उपवीत नूतन ग्रहण कर
रावण विमल लगने लगा।

धर उत्तरीय गिरि-देह पर
पदत्राण बिनु पैदल चला,
मंदोदरी के इष्ट ढिग
मंदोदरी का पति चला।

लेने चला दशशीश था
निज पत्नी के भगवान को,
संमानयुत पैदल चला
तज वीरवर अभिमान को।

पौलस्त्य वंशी द्विज विमल
रावण अभय तन कर चला,
ज्यों वीर-मंडल मध्य में
ब्रह्मास्त्र बन शंकर चला।

श्रीराम आगे बढ मिले
विस्मित लखन झुकने लगे,
थी चल रही लीला अगम
हनुमान नत होने लगे।

सुग्रीव ने स्वागत किया,
अंगद चरण छूने लगा;
शैशव पिघल दृग-कोर से
था अश्रु बन चूने लगा।

थे राम का संकेत पा
शंकित विभीषण हट गये,
परिवेश लख बदला हुआ
वे थे शिविर में छिप गये।

लंकेश के शुभ कृत्य से
'कुल - कालिमा' थी हट गई,
शुभ ज्योति के सँभार से
तम - गर्द सहसा दव गई।

जब निभ रही प्रतिशिष्टता
उस काल थी बलवान की,
ॠषि - मुनि विमोहित हो गये
लख प्रीति अपने राम की।

यूँ युद्ध की शापित घड़ी
थी प्रीति में पलने लगी,
बह वायु शीतल शाति की
थी भक्ति - ॠतु रचने लगी।

संग ले अनुज को चल पड़े
लंका, निभाने को धरम,
दशशीश अगवानी करे
तज द्रोह, ममता औ' भरम।

'सीता - हरण ! यह स्वाँग अब !'
सौमित्र थे शंकित सहज,
गुरु गूढ़ लीला बेधती
थी सौम्यता कृत्रिम महज।

जो वीर कल ही था छला,
कैसे सहज पतियाएगा;

वह शत्रु की हर चाल में
सहजात संशय पाएगा।

थे राम सीता - पति, मगर
वह वीर पहरेदार था;
सीता - हरण से हो व्यथित
प्रतिशोध का अंगार था।

उपदेश माना राम का कुछ
शील - वश, कुल - नीति से
फिर भी सशंकित था बना
वह राक्षसों की रीति से।

था तीर वह बिन फन धरे
कटि मध्य मे अनुमान कर,
चलने लगा था वीरवर
चैतन्य सीना तान कर।

थी गुप्त उसकी योजना,
अनभिज्ञ सब बलवान थे;
चेतन सुसज्जित वह चला,
नि:शस्त्र यद्यपि राम थे।

हर चाल को परखे सहज,
सब आहटों पर चौंकता,
श्रीराम - रक्षा को सजग
ज्यों पृष्ठ पीछे औंधता।

मन क्षोभ से भरता गया,
अन्त:करण उद्विग्न था;
लख यज्ञ भीतर चाल कुछ
वह वीर पथ पर खिन्न था।

उसकी नहीं रुचि यज्ञ में,
वह था समर्पित राम को;
हर हाल रक्षा - हित खड़ा
अनिमेष आठो याम को।

जब राम पहुँचे द्वार पर
गढ़ के निकट मंडप जहाँ,
मंदोदरी अपलक खड़ी
पथ जोहती उनकी वहाँ।

वह देखते ही नत हुई
आराध्य के श्रीपद - कमल,
झर कर नयन से नीरकण
धोने लगे हरि - पद विमल।

जब यज्ञ - मंडप मध्य में
भगवान पीठासीन थे,
थीं फूटती किरणें अगम
श्रुति - वेद लय में लीन थे।

कर आरती, पूजन, हवन
मंदोदरी प्रमुदित हुई,
आशिष प्रभु की शीश धर
वह साधिका शोभित हुई।

देखे कभी अपलक नयन,
छुए कभी प्रभु - पदकमल;
कर जोड़ कर थी नत खड़ी
मंदोदरी गद्‌गद् सजल।

कृतकृत्य कर निज भक्त को
पुलकित हुए रघुवीर - वर,

रावण विदा देने चला
संकल्प निज संपूर्ण कर।

तत्काल कुछ घटना घटी
जो देख प्रभु विस्मित हुए,
गंभीर रावण प्रतिक्रिया की
सोचकर चिन्तित हुए।

विधि - वश लखन - कटिबंध से
था तीर भू पर गिर पडा,
चौका तुरत रावण, मगर
कुछ सोच कर था हँस पड़ा।

पूजा - प्रहर पावन घड़ी
विश्वास का त्यौहार था,
मन संतुलित करता हुआ
शोधा त्वरित व्यवहार था।

था लक्ष्मण शंकित स्वयं ?
या राम का संकेत था ?
लंकेश पुनि - पुनि सोचता
पर धीर मन समचेत था।

मन की व्यथा कहने लगा
संयत स्वरों में राम से,
होकर विनत, धर संतुलन
कुछ व्यंग्य, कुछ संमान से।

'कैसा समापन यज्ञ का !
यह तो महा अशकुन हुआ;
संकल्प की समिधा जली,
विश्वास का कर्तन हुआ।

निःशस्त्रता की शर्त थी,
विश्वास ही संकल्प था;
प्रत्यय बिना इस यज्ञ का
किंचित न कोई अर्थ था।

इस रक्षकुल की भूमि पर
मंदोदरी ने तप किया;
पूजन - हवन, अर्चन सहित
धर ध्यान पावन जप किया।

पति - धर्म से प्रेरित हुआ
निःशस्त्र मैं भी था गया;
विश्वास के शुभ यज्ञ में
सन्देह क्या था रह गया ?

फिर क्यों हुआ प्रत्यय - हनन—
इसका मुझे कुछ क्लेश है;
मंदोदरी के यज्ञ का जब
तीर यह अवशेष है ?

इस काल तुम मेरे अतिथि,
मय की सुता के इष्ट हो;
कहना नहीं कुछ चाहता
यह यज्ञ चाहे भ्रष्ट हो।

शकित लखन या शक तुझे—
पर दोष दिल में था कहीं;
क्यों रीति टूटी प्रीति की
जब पाप मन में था नही ?

पर, राज जो भी हो, मगर
अब एक ही अनुरोध है;

'तुम ध्यान से सुन लो इसे
मुझको न कोई क्षोभ है।

यह तीर मंडप - मध्य गिर
वर्तुल - विलोमी हो गया;
अब भूमि में धँसना कहाँ,
विरचित विधर्मी हो गया।

इसको उठा कर लक्ष्मण
कटिबन्ध मे सम्मान दे,
कल जब समर छिड़ जाएगा
उस वक्त फिर सन्धान ले।

इस तीर की यह दुर्दशा!
हर हाल वीरोचित नही;
इस वीर - मंडल मध्य में
यह कर्म है समुचित नही।"

चाहा छिपाना राज़ जब
'भूमिज' बता उस तीर को,
कम्पन धरा में हो गया,
स्पंदन लखन रणधीर को।

भूमिज लखन ने जब कहा
सच को छिपाने के लिए,
था तीर 'कंपन' बन गया
प्रतिफल जताने के लिए।

लख कर भयंकर प्रतिक्रिया
थे लक्ष्मण विस्मित हुए;
कुछ सोच कर सँभले भले
लेकिन सहज विचलित हुए।

यह राज था लेकिन बना
क्यों राम संयत मौन थे;
जो रोक कर उनको रखे
वे गुप्त कारण कौन थे ?

जब लक्ष्मण से त्यक्त होकर
तीर था निन्दित हुआ;
सहसा धरातल से उछल
रावण - शरण आगत हुआ।

उस वाण के अपमान से
जब क्षोभ था बढ़ने लगा;
रावण परम योद्धा व्यथित
गंभीर हो कहने लगा।—

"सुन लक्ष्मण ! इस 'शक्ति' को
रणनीति मैं सिखलाऊँगा;
मँहगा पड़ेगा तब तुझे
जब भी इसे लौटाऊँगा।

युद्ध के सब आयुधों में
यह प्रखरतम तीर होगा,
नीति से दूँगा इसे जब
भी समय गंभीर होगा।

मैंने विभीषण को तजा,
तुमने तजा यह तीर है,
है त्याज्यता घातक परम
यह जानता हर वीर है।

है कालगति टलती नहीं,
चलता नही कुछ जोर है;

यदि है विभीषण उस तरफ,
यह शक्ति मेरी ओर है।

पूरा हुआ सम-दम, गणित—
विनिमय; विधाता ने किया,
कल से समर प्रारंभ हो,
जो भी किया--विधि ने किया।

जो भी हुआ—अच्छा हुआ,
है मन मलिन करना नहीं;
थी यज्ञ की पावन घडी,
कुछ द्वेष मन धरना नहीं।

मेरे अतिथि! तुम खुश रहो
'रक्षित' शिवर पहुँचाऊँगा;
मंदोदरी के इष्ट हो
पति का धरम निभाऊँगा।"

तब मयसुता कर परिक्रमा
श्रीराम-पद छूने चली;
दृग से वही धारा विमल
बन भक्ति, जो युग से पली।

प्रभु मौन, पर गंभीर हो
निज भक्त पर हर्षित हुए;
भुजद्वय उठा आजानुभुज
आशिष दे पुलकित हुए।

रावण शिविर तक ले गया
रघुनाथ को संमान से,
लौटा नगर को वीर था
पश्चात् उसके शान से।



रावणत्व

तुम सोच अब रावण—विनय
तुम सोच उसकी नीति को;
प्रभु की परम प्रिय भावना,
तुम सोच उनकी रीति को।

जिस राम को लंकेश्वरी
भगवान ही कहती रहीं;
छोड़ी नहीं लंका, भले
मन की व्यथा सहती रही;

दशशीश ने भी स्नेहवश
पतिका धरम - पालन किया;
अविचल खड़ा हो नीति पर
था लोक-जीवन को जिया।

मैं भी स्वयं थी राम मय
स्पष्ट मेरी नीति थी;
फिर भी न की शंका कभी,
उसको प्रजा से प्रीति थी।

सिद्धांत या विश्वास का
उसने नहीं विनिमय किया;
थोपी न मन की मान्यता,
जो भी किया सविनय किया।

अपनी जगह दोनों सही
क्या राम या लंकेश क्या;
जब प्रश्न हो संमान का
तो देश या परिवेश क्या।

कुल - नारियों के मानहित
दो युग - पुरुष बढ़ने लगे;
यद्यपि अनीच्छित युद्ध था
पर आन पर लड़ने लगे।

इसके सिवा कहना कठिन
क्यों राम - रावण रण हुआ,
वह कौन, किसका दोष था
जो युद्ध का कारण हुआ।

अतिस्नेह से श्रीराम ने
उसको सराहा था सहज;
है वीर की महिमा बड़ी
जो प्रीति ही खोजे महज।

निज आँख से देखी हुई
भोगी हुई मन की व्यथा;
मैंने कही जो—है सही
यह राम की अनुपम कथा।

लेकिन करुण कोमल कथा
बँध कर रहेगी पाश में;
विकृत विरूपित बात ही
रह जाएगी इतिहास में।

रावण भुज - बल का मानी था;
वह जाति - वंश अभिमानी था।

भगवान अगर दुश्मन बन कर,
चढ़ जाय देश की सीमा पर;

तो वीर नहीं चुप रहता है,
अपमान नहीं सह सकता है।
ललकार - भरी गर्जना करे,
कर शंखनाद तर्जना करे,

लेता है चट तरकश सँभाल,
दुश्मन चाहे हो महाकाल।
सौ बार विभीषण दगा करें,
कायर शिविरों में भगा करें,

भूले कलंक का बोध नहीं,
मानता बिना प्रतिशोध नहीं।
जब चोट अहं पर होती है,
शूरता न संयम ढोती है,

स्वर में पावक भर जाता है,
जब वीर क्रोध में आता है।

जिसकी जाँघों ने ज्वाल और
बाँहों ने विभा सॅभाला,
जिसने स्वदेश के लिए
देवता पर भी ताना भाला;

जिसके बल से भगवान स्वयं
हों मन - ही - मन भय खाते,
तपसी बन जोहें जोर और
वन - जन से शक्ति जुटाते,

वह वीर निरंकुश भले
वीरता का दुर्लभ मंदिर है;

कँपता है तीनों लोक, लोक में
स्वयं अडिग स्थिर है।

हिल जायँ धरा के वीर,
वीरता उसके चरण दबाये;
बैकुंठ छोड़ कर स्वयं ब्रह्म
सीमा पर लड़ने आये;

दें एक नहीं, अनगिनत विभीषण
भेस बदल कर धोखा;
पर वीर अकेला बढ़ा
गरज कर महाकाल को रोका।

है कौन वीर जो धर्मनीति
से जीता कभी समर है;
हिंसा से हट कर कौन
शूर धरती पर बना अमर है?

कह, राम - बालि का युद्ध धर्म
से कितना सिक्त, सहज था;
माना प्रणयी थी शूर्पणखा
क्यों कटी नाक, क्या अद्य था?

यव - कुश - अक्षत को नहीं,
वीर ले वज्र कुंड में घूमे,
गह कर त्रिशूल, बन वीरभद्र
देवों के सर पर झूमे।

पुरुषार्थ विनय में नहीं
वीर के होता है भुजबल में,
उत्ताप अश्रु में नही
ताप होता है प्रखर अनल में।

एक - एक प्रत्येक विभीषण
साथ अगर छोड़ेगा,
फिर भी न हिलेगा वीर पुरुष
अरि की गर्दन तोड़ेगा।

धरती पर कोई सत्य अगर
वह सत्य तेज है, बल है;
पीते हैं पामर सुधा छीन,
वीरों का पेय गरल है।

जो निगल सके हँस कालकूट
उस कालकंठ की जय हो;
सोखे जगहित जो महागरल
उस नीलकंठ की जय हो।

जो भी स्वदेश की रक्षा में
सीमा पर अडिग खड़ा है,
जिसकी बाँहों में वज्र और
तरकश में तेज भरा है।

करती है वसुधा वरण उसे
जिसकी जाँघों में ज्वाला;
कंधों पर लिए काल घूमे
जो अरिमर्दक मतवाला।

जिसकी आँखों में आग और
रग - रग में तेज भरा है;
वह वीर शांति का स्रोत
गरज जो अरि पर टूट पड़ा है।

जो लड़े अकेले महासमर
ललकार शत्रु के दल को,

सीमा पर चढ़ते देव और
दुश्मन बनते ईश्वर को।

खींचे त्रिलोक की शक्ति
और बैकुंठ गदा से तोड़े;
यदि महाकाल सीमा पर हो
बाँहों में पकड़ झिंझोड़े।

जो स्वाभिमान की रक्षा में
अरिदल पर टूट पड़ा हो,
करता शिव-सा संग्राम और
क्रोधित त्रिशूल पकड़ा हो।

कुल-नारी का अपमान देख
खोले तीसरे नयन को,
भगदड़ मच जाय देवदल में
विध्वंसे यज्ञ-हवन को;

नर-रूप ब्रह्म को भुजबल से
जिसने रण में ललकारा,
कर दी वीरों की जाति अमर
वह शूर समर कब हारा?

जो स्वाभिमान का भाव विहँसकर
भुजबल पर धरता हो,
जिसके पातक से ब्रह्म राम
वन बिलख-बिलख रहता हो;

जो स्वयं मृत्यु का कालखंड
तरकश से तय करता हो,
खोले निज हाथों स्वर्ग-द्वार
भीतर सशस्त्र बढ़ता हो;

जिसके शर में वह शक्ति और
भुज - बल में तेज भरा हो,
लड़ने को जिससे स्वयं ब्रह्म
हाथो में अस्त्र धरा हो;

जिसको था सबने मान लिया
नर - रूप शत्रु ईश्वर है,
फिर भी था फूँका शंखनाद
वह वीर कहाँ नश्वर है ?

जो स्वयं दया का पात्र बना,
कायर है, शरणागत है,
जो त्राहि - त्राहि की रटन करे
रण से पहले आहत है;

जो भाग गया तज जन्मभूमि
निज रक्षा में, निज हित में;
गिर गया शत्रु की शरण
युद्ध के पहले युद्ध - गणित में;

कर गया कलंकित कोख
दगा दे देश और पुरजन को;
रोती हो जननी, जन्मभूमि
कर याद प्रसव के क्षण को;

रोते हों नगर, डगर रोयें
रोयें स्वदेश का कण - कण;
पर सुने नहीं कायर कपूत
जो भी बन जाय विभीषण।

माना - उसने दुष्कर्म किया,
था पर - नारी का हरण किया;

पर कौन पाप ज्यादा भीषण ?
कह रहा आज भी दंडकवन।

था इधर विरूपण, उधर हरण;
यह तो केवल प्रतिशोध - चरण।
जो भी कुछ दोष हरन में था;
वह तो रावण के मन में था।

पर जहाँ दोष थे, गुण भी थे;
रावण में कुछ सद्‌गुण भी थे।
था देश - जाति का स्वाभिमान;
रावण त्रेता में था महान।

माना दुश्मन को दुश्मन था;
चाहे वह नर - नारायन था।
वह तो वीरों की राह चला;
दुश्मन को किये तबाह चला।

दशशीश भुजाओं - कंधों पर
बल - वीर्य बाँध कर गरजा था;
लड़ने को ललका परम ब्रह्म
तब विहँस - विहँस कर बरजा था।

'रे राम, नीति से तू लड़ले
लौटा दे नीच विभीषण को;
विष - बपन करे क्यों वंश - बीच
लौटा दे उस पातक - धन को।

तू नर हो चाहे परम ब्रह्म
लंकेश न पीठ दिखाएगा;
यह मर्त्यलोक की गरिमा है
मर कर भी इसे बचाएगा।

जो कुछ करना, निष्कपट करो
क्यों वंश - विपर्यय करते हो;
लौटा दे राम विभीषण को
गर्हित पथ क्यों पग धरते हो ?

है राजभेद यदि युद्ध नीति
तो वंश - भेद पातक भारी;
यह दो वंशों के बीच युद्ध
लाओ रघु की सेना सारी।

मैं मुनि पुलस्त्य का वंशज हूँ,
बैकुंठ झुकेगा चरणों में,
लौटा दे राम विभीषण को
क्यों छिपते हो आवरणों में ?

लड़ने आये हो लंका में
लड़ लो दशकंधर चढ़ आया;
लेकिन वीरों की भाँति लड़ो;
त्यागो राक्षस - कुल की साया।

बाली से लड़े व्याध बन कर,
गहके अनीति बानर मारा;
लौटा दे राम विभीषण को
रावण ने तुझको ललकारा।'

रघुवंश - पुरुष थे राम अगर,
रावण भी था पौलस्त्य प्रखर।
छोड़ा न उन्होंने राम धर्म;
रावण क्यों छोड़े रक्षकर्म ?

खटकी थी बात विभीषण को,
देखा जब गुरुतर दुश्मन को।

हर पाप - पुन्य का सहभागी;
बन गया विभीषण था त्यागी।

छोड़ी थी जननी - जन्म भूमि
छोड़ी लंका की कर्म भूमि।
रावण - जैसा भाई छोड़ा
सुख का, दुख का नाता तोड़ा।

बन गया पातकी रामभक्त
जा गिरा शरण बन स्वार्थभक्त।
घर का भेदी, खर - दूषण था;
गृह - द्रोही बना विभीषण था।

लेना था, लेता वंश - पक्ष;
या रह जाता यूँ ही निपक्ष।
न्योता न राम का आया था;
कपियों ने नही बुलाया था।

उससे तो थे सुग्रीव भले;
जब स्वयं राम जा गले मिले।
मैत्री के हाथ बढ़ाये थे;
चल ऋष्यमूक तक आये थे।

बानर भी रखता स्वाभिमान;
जा स्वयं राम ने दिया मान।
पर, कैसी भक्ति विभीषण में?
छोड़ा लंका को दुर्दिन में।

माना कि राम थे—नर - वर थे;
पर चढ़ आये लंका पर थे।
जननी का त्याग किया उसने
जब छोड़ा देश विभीषण ने।

वह बड़ा पतित था कर्म, सखे !
यह नहीं वीर का धर्म, सखे !
जननी की कोख कलंकित कर;
छल किया देश - द्रोही बनकर।

तज दिया बन्धु को ठीक किया;
पर भेदी बन अनरीत किया।
यह कभी वीर का धर्म नहीं;
यह तो सपूत का कर्म नहीं।

मैं सोच - सोच के रोती हूँ;
उस कायर का दुख ढोती हूँ।
अब मेघनाद, लंकेश कहाँ !
लंका वीरों का देश कहाँ !

जो - कुछ भी बचा - विभीषण है;
जो कुल द्रोही, कुल - दूषण है।
मुँह देखी कही नहीं जाती;
रावण बिन बनी विकल छाती।

रावण की प्रजा दुखी न कभी;
थे दुश्मन रहे सुखी न कभी।
लंका में शिव की शक्ति खड़ी,
थी यहाँ राम की भक्ति बढ़ी।

रावण ने कभी नहीं रोका;
था उसने नहीं मुझे टोका।
मयसुता स्वयं थी रामभक्त;
लंकिनी प्रबल सबला सशक्त।

लंका में सभी वर्ण पलते;
पूजा, जप और हवन चलते।

करता था भक्ति विभीषण भी;
रावण ने रोका नहीं कभी।

दशमुख में धर्म - विरोध न था;
उसका कोई प्रतिरोध न था।
सब लोग स्नेह से रहते थे,
सर सभी उठा कर चलते थे।

हर - हर, बम - बम का नारा था;
यह देश सभी को प्यारा था।
यद्यपि सब रहते थे स्वतंत्र;
पर देशभक्ति था मूलमंत्र।

लंकेश हृदय का था उदार;
करता स्वदेश को अमित प्यार।
वह वंश - जाति पर मरता था;
रावण न काल से डरता था।

वह देश - द्रोह का दुश्मन था;
बस चूका यहीं विभीषन था।
रावण स्वधर्म का मानी था;
वह वीर वंश - अभिमानी था।

सर काट - काट विधि को देता;
वरदान सहज उनसे लेता।
उसके जप - तप में तेज भरा;
भुजबल में उसके वेग भरा।

माना - रावण अपवाद सही;
भुजबल में भरा प्रमाद सही।
लेकिन अतिशयता जब आती;
अपवाद साथ में भी लाती।

'अति' में हरदम गुण - दोष भरा,
कुछ जोश और कुछ होश भरा।
अतिशय धन हो या अतिबल हो;
चाहे हो बुद्धि, मनोबल हो;

जब भी सीमा को तोड़ चले;
मान्यता सभी झकझोर चले;
तब दोष सहज ही आते हैं,
पर वीर नहीं भय खाते हैं।

रावण - सा वीर महान नही,
आखिर नर था, भगवान नही।
ईश्वर में कही विकार नही,
उसका कोई आकार नहीं।

बिनु कान सुने, बिनु पाँव चले;
बिनु कर ही सकल विधान करे।
नरलीला में नर - मोह भरा;
नर का विकार, नर - द्रोह भरा।

है जहाँ रूप, गुण - दोष वहाँ;
जब रूप नही तो दोष कहाँ।
आकार 'विकार' सहित चलता;
'निःरूप' विकार - रहित रहता।

साकार दोषमय काया है;
'निःरूप' अनाम - अमाया है।
यदि राम ब्रह्म साकार, सखे!
अवतार - रूप सविकार, सखे!

जो निराकार वह निर्विवाद;
साकार न बचता बिन विवाद।

है ब्रह्म पूर्ण तो जीव पूर्ण;
माया नर को करती अपूर्ण।

माया से राम न बच पाये,
रावण से जब लड़ने आये।
वह जीव-धर्म का मानी था,
यद्यपि बल का अभिमानी था।

रावण मर कर भी अमर हुआ,
था व्यर्थ न उसका समर हुआ।
जो गति पाई थी रावण ने,
पाई कब कहाँ विभीषण ने?

था वीर, वीर की भाँति लड़ा,
वह अब भी सीना तान खड़ा।
मरते तो सदा विभीषण हैं,
जो देश-वंश के दूषण हैं।

वे प्रसव-काल के मरे हुए,
रहते बस जिंदा गिरे हुए।
जो देशभक्त हैं कालजयी,
वे युद्ध हार कर भी विजयी।

लंका-सा सुंदर देश नहीं,
दुर्भाग्य आज लंकेश नही।

यह कहना बड़ा कठिन, बेटा,
वह किसकी विजय-पराजय थी;
थी जीत विजेता के बल की,
या जननी से छल की जय थी।

लंका की हार हुई उस पल
जब किया अधम ने वंश घात;

रावण तो मर कर अमर हुआ
बस कहने को रह गई बात।

जिसके भी पूत विभीषण हों,
वह देश न होता नम्य कभी
जो जन्मभूमि को धोखा दे,
वह नीच न होता क्षम्य कभी।

जब अपना खून बना बैरी
अपना ही पूत कपूत हुआ;
रावण हो गया बड़ा दुर्बल,
जब अपना सिक्का खोट हुआ।

पहले बेटी की नाक कटी
कट गई नाक फिर माटी की;
पर उसने हार नहीं मानी
रख गया लाज परिपाटी की।

उठ गया युगों का काल - जयी
राक्षस - कुल का अभिमान गया;
रोता है देश, वंश रोता
लंका का वीर महान गया।



रामोद्‌गार

धरती वीरों से हुई रिक्त
रावण जब गिरा समर में,
रोयी थी धरा, गगन रोया,
रोये थे राम शिविर में।

कंधों से लग ब्रह्मांड झुका
झुक गई वीरता चरणों में;
रोयी थी जननी - जन्म भूमि
कुल - रीति नमित थी कदमों में।

थक गए राम जिससे लड़कर
माथे से बहा पसीना था,
वह महाबली रावण सोया,
गिर कर भी ताने सीना था।

रोया था पतित विभीषण भी
माँगा था झुककर क्षमा - दान;
भर गया घृणा से था रावण,
कह 'कुल - कलंक; कुलशत्रु -श्वान'।

था कहा राम ने संयत स्वर—
'है आज हार की जीत हुई;
तप के बल से जो गति दुर्लभ,
वह प्रकट युद्ध के बीच हुई।

भुज के बल से पा महामोक्ष
रावण वीरों में अमर हुआ;
था वीर, वीर की भाँति मरा
यह बड़ा अनूठा समर हुआ।

धरती पर थे अनगिनत वीर
फिर भी रावण का मेल नही;
निज भुजबल बैर बढाया था,
वह अतुल वीर था—खेल नहीं।

लंका का हुआ विनाश भले
मेरे भी छक्के छूट गये;
वन - वन बिलखे दोनों भाई
हम खंड - खंड थे टूट गये।

'यद्यपि भुजा के जोर से
मैंने दशानन - वध किया,
दंडित किया पुरुषार्थ से
अपमान का बदला लिया;

लेकिन सभी रण की कला,
हर युद्ध - कौशल व्यर्थ है,
उर हो न परिवर्तित अगर
जयघोष का क्या अर्थ है!

जीता नही अरि का हृदय
जब तक हृदय की रीति से,
तब तक निरर्थक है विजय
जीता न उर को प्रीति से।

जो पाप उसके उर बसा
वह तो वहीं पर रह गया,

हैं बच गई सब वस्तुएँ,
केवल महल भर ढह गया।

रावण मरा तो क्या हुआ,
है पाप तो जिन्दा खड़ा;
यह अस्त्र - बल की व्यर्थता
जो अघ बचे, फूटे घडा।

यद्यपि विजय का यश मिला,
फिर भी यशस्वी मैं नहीं,
रण हार कर हर्षित बनूँ,
ऐसा मनस्वी मैं नहीं।

रावण नहीं हारा सखे,
हारी हमारी प्रीति है;
दुर्गति अहिंसा की हुई,
लज्जित हमारी नीति है।

वह सत्य की कैसी विजय
निंदित अहिंसा हो जहाँ,
जब रीति हारे प्रीति की
सम्यक् विजय होती कहाँ?

यदि शांति के संसाधनों से
जीत हो मन पर नही,
तो वह विजय - गति तुच्छ है
जो हो कभी स्थिर नही।

दृढ निश्चयी दशशीश के
दुश्मन भले बढ़कर सभी,
पर आत्मविद् नरसिंह ने
देखा नहीं मुड़कर कभी।

पाई समर मे वीर गति,
छोड़ा नहीं पर आन को;
कैसे पराजित मान लूँ,
उसकी प्रबल पहचान को।

मेरी विजय की भूमि पर
उसका विजय-ध्वज भी गड़ा,
कैसे उसे कह दूँ विजित,
स्वत्वाग्रही जिन्दा खड़ा।

पावन अहल्या-सी मती
के साथ जो पातक हुआ,
कुछ पुण्य-पुरुषों के चरित
का चित्र जो घातक हुआ;

वे तो अभी जिन्दा खड़े
निर्लज्ज सीना तान कर,
रावण मरा तो क्या हुआ,
मैं हूँ दुखी सब जान कर।

उन पापियों की भीड़ से
रावण भला था, वीर था,
वह नीच था उन-सा नहीं,
पंडित, परम रणधीर था।

यह क्षोभ मन में रह गया,
अब क्लेश है जाता नही,
कितनी कहूँ मन की व्यथा,
यह सुख मुझे भाता नही।'

कहते-कहते अतिशय अधीर,
थे सजल सार्द्र हो उठे राम;
दे गये विदा थे रावण को
कर स्नेह सहित अंतिम प्रणाम।



आप्त-वचन

था राम ने उस क्षण कहा—
रे लक्ष्मण, सुनना जरा;
कुछ नीति की बातें कहूँ,
मत मानना इनका बुरा।

पौलस्त्य वंशी वीर यह
पंडित परम नीतिज्ञ था;
सर काट कर अर्पित किया
हर साधना से भिज्ञ था।

कुछ राजनैतिक चेतना,
कुछ नीतियाँ, चिंतन - क्रिया;
इसको सहज ही प्राप्त थीं,
श्रद्धा-सहित इसने जिया।

भोगे धरा के सुख सभी,
था राज्य निष्कंटक किया;
जननी - जनम की भूमि से
इसने नही धोखा किया।

राजा - प्रजा खुश थे सभी
लंका नगर में शांति थी;
निज वाहुबल में, नीति में
इसको न कोई भ्रांति थी।

खुश थे कुटुंबीजन सभी
इसका सुखी परिवार था;
थे शत्रु इससे काँपते,
योद्धा बड़ा खूँखार था।

उर का सरल, था शांत चित्त
दाता, प्रजापोषक प्रबल;
जोगी, जपी, साधक, तपी,
अनथाह इसका बाहुबल।

इस वीर ने रणभूमि मे
अतिशय पराक्रम है किया;
यह क्षात्रधर्मी विप्र था,
स्वेच्छा मरा, स्वेच्छा जिया।

था वेदवेत्ता, नीतिशास्त्री,
रक्षधर्मी वीर था;
रावण तपस्या का धनी
चिंतक बडा गंभीर था।

पर कालवश इसने किया
बन साधु - सीता का हरन;
है एक पातक से हुआ
इस वीर का दैहिक - पतन।

है शत्रुता तब तक सही
वैरी अगर जिंदा खड़ा,
लेकिन पुरुष वह पूज्य है
हत हो अगर रण में पड़ा।

इस वेद धर्मी वीर ढिग
तुम नीति का याचक बनो,

हो कर विनत तुम शिष्यवत्
शुभशील का साधक बनो।

अंतिम गमन के काल का
पावन मुहूरत खोजता;
रावण पड़ा रणभूमि में
चैतन्य - चित्त दम तोड़ता।

वेदज्ञ ब्राह्मण वीर यदि
यूँ ही धरा से जाएगा;
लौकिक-धरम का दीप भी
चिरकाल को बुझ जाएगा।

कुछ राजनैतिक चेतना
लौकिक धरम की रीति को;
व्यवहारवादी विप्र से
तुम पूछना रणनीति को।'

सुन राम के अद्भुत वचन
उत्सुक लखन पहुँचे वहाँ;
अंतिम घड़ी था गिन रहा
रणभूमि में रावण जहाँ।

'शिव - शिव' कहे संसिक्त स्वर
चैतन्य आँखें बंद थीं;
उत्तान गिरि - सम देह से
निर्गत किरण निर्द्वंद्व थी।

दशशीश के सर के निकट
अभिभूत, प्रेरित यंत्रवत्;
थे लक्ष्मण मूर्तित खड़े
मनमुग्ध मोहित मंत्रवत्।

निरखें कभी शैलाभ तन
उत्तुंग वक्षस्थल कभी,
देदीप्त मस्तष्क की छटा
भुजदंड मुखमंडल कभी

था दीखता हिमवान - सा
भू पर पड़ा रावण बली,
रणभूमि में थी कौंधती
तनतेज की किरणावली।

आहट किसी का जानकर
था प्रश्न रावण ने किया;
होकर सजग तब लक्ष्मण ने
आत्म परिचय था दिया।

दशशीश हँस कहने लगा—
'तुझमें नहीं है पात्रता;
उपदेश निष्फल जाएगा,
सीखो प्रथम तुम शिष्टता।'

क्रोधित लखन ने लौटकर
जब राम से घटना कही;
वे क्षुब्ध - मन बोले तुरत—
"है उक्ति रावण की सही।

जाकर प्रथम छूना चरण
होना खड़ा करबद्ध नत;
है नम्रता ही पात्रता,
गुरु - ज्ञान की महिमा महत्।"

रावण निकट फिर से गए
तब लक्ष्मण सज्ञान बन;

हो कर विनत वंदन किया,
गर्वित हुए छूकर चरण।

लख कर नियति की नाटिका
रावण सहज हँसने लगा;
फिर नीतिवश सौमित्र से
गंभीर हो कहने लगा। —

"जो आज करना है उसे
कल पर कभी मत छोड़ना;
अच्छा नही होता कभी
संकल्प से मुँह मोड़ना।

कल का भरोसा मोहवश,
मैंने किया, पछता रहा;
कुछ योजनाएँ रह गई,
यूँ ही अकेला जा रहा।

खारा अपावन है पड़ा
शापित युगों से सिंधु - जल;
इसमें मधुरपन घोलने की
थी बड़ी इच्छा प्रबल।

लंकानगर से स्वर्ग तक
सोपान की थी कल्पना;
यद्यपि सहज मेरे लिए
पर व्यर्थ अब वह योजना।

अतएव ध्रुव को छोड़कर
अध्रुव न गहना चाहिए;
जो आज करना है उसे
तत्काल करना चाहिए!

करना सभी से स्नेह पर
विश्वास यूँ करना नही;
अज्ञात जिसका शील हो
उस व्यक्ति संग रहना नही।

निज अस्त्र - शस्त्रो को कभी
भी शत्रुगृह धरना नही;
संदिग्ध पुरुषों से कभी
भी मंत्रणा करना नहीं।

जननी, जनम की भूमि की
होती बड़ी गरिमा गहन;
लघुकाय लगता स्वर्ग भी
दिखते जहाँ इनके चरन।

धर्मी वही संतान जो
इनका सुखद पालन करे;
छोड़े न मर्यादा कभी
यदि देवता भी रण करे।"

कहते हुए ये सद्‌वचन
वह भूत में खोने लगा,
कर याद जननी - जाति की
सहसा द्रवित होने लगा।

इस भाँति जब लंकेश ने
उपदेश पावन था दिया;
हो कर विमोहित लक्ष्मण ने
प्रश्न कुछ उस क्षण किया।

'हे विप्रवर, तुमने किया
किस हेतु सीता का हरण;

पौलस्त्य वंशी वीर का
क्या श्लाघ्य था यह् आचरण ?

क्या धर्म वीरों का परम,
लौकिक - धरम की रीति क्या,
यदि शत्रु गुरु - सम पूज्य हो
तो वीर की रण - नीति क्या ?

थी एकता कैसे यहां
कैसे यहाँ पर शांति थी;
लंकाधिपति की नीति में
कैसे न कोई भ्रांति थी ?

त्रैलोक था दुश्मन बना
सर्वत्र ही विद्रोह् था;
फिर भी तुम्हारे राज्य में
कैसे परस्पर स्नेह् था ?''

सुन लक्ष्मण के प्रश्न सब
रावण सहज हँसने लगा;
मन में दबे जो भाव थे,
संयम सहित कहने लगा।

''धर्मांधता को छोड़ कर
तुम क्षत्रियों की नीति क्या;
अविवेक प्रण - पालन बिना
रघुवंशियों की रीति क्या ?

जब कैकेयी अव्यक्त थी,
वरदान भी अज्ञात थे;
तो किस वचन की बद्धता में
बाध्य तेरे तात थे ?

वन में प्रिया का संग हो,
तपसी - उदासी वेष क्या ?
यदि पादुका राजा बने
वर में बचा फिर शेष क्या ?

फिर क्यों कलंकित कैकेयी,
दशरथ - मरण फिर क्यों हुआ ?
चौदह बरस वनवास का
नाटक अकारण क्यों हुआ ?

कैसे उसे ईश्वर कहूँ
वनिता - विरूपण जो करे,
अपनी प्रिया के हरण से
बिलखा करे, जो रण करे ?

स्वविवेक से सन्मार्ग चुन
जो आचरण क्षत्रिय करे;
खुद में अटल विश्वास रख
जीवन - समर में पग धरे;

यदि शत्रु के दौर्बल्य की
पहचान है उसमें सही;
तो रण नहीं वह हारता—
यह सूक्ति संतों ने कही।

रणपूर्व जो रण का गणित
प्रारंभ होता चित्त में;
सम - दम - विभेदी योजना
बनती हृदय के वृत्त में,

करती सुनिश्चित है वही
रण में विजय या हार को;

वह बाँधती है शत्रु के
हर वर्त्म को, व्यवहार को।

होती समर की भूमि में
घातक बड़ी संवेदना;
इस तीर-धर्मी नीति मे
अच्छी न अंतश्चेतना।

भ्राता, पिता गुरु, मित्र क्या?
प्रिय देवता भी वध्य है,
कुल की सती निंदित जहाँ,
बचता न कोई सत्य है।

भगवान भी रण में खड़ा
यदि शत्रु-सा ललकारता;
कर्त्तव्यवश योद्धा उछल
है तीर पहला मारता।

निर्मम समर की नीति में
कोई नहीं नमनीय है;
करता समर्थन शत्रु का
जो व्यक्ति वह वधनीय है।

राजा न होता व्यक्ति, वह
व्यक्तित्व सारे देश का;
युगधर्म की पहचान वह,
पालक वही परिवेश का।

जननी, जनम की भूमि का
राजा सजग प्रहरी, लखन!
उसकी सचेतन शक्ति होती
राष्ट्र का अनमोल धन।

राजा समर्पित राष्ट्र को
हो नीति - संचालन करे;
प्रहरी प्रजा के धर्म का
बन लोकमत पालन करे;

होते सुखी राजा - प्रजा,
तब राष्ट्र वह मरता नहीं,
दायित्व के पालन बिना
शासक सबल बनता नही।

प्रतिबंध लंका में नहीं था
जाति का या धर्म का;
उपलब्ध सबको न्याय था,
दायी सभी थे कर्म का।

थी स्वच्छता, स्वच्छंदता
हर व्यक्ति बलशाली यहाँ,
पर राष्ट्रधर्मी - भाव से
कोई न था खाली यहाँ।

जननी, जनम की भूमि की
महिमा बड़ी उत्कृष्ट थी,
यह भावना इस देश के
हर व्यक्ति में संश्लिष्ट थी।

इसके बिना चलता नहीं
कोई यहाँ था आचरण,
निष्ठा यही थी बाँटती
सबमें परस्पर स्नेह - धन।

कुल की बधू, कन्या अगर
संमान - हत होती रहे,

परपुरुष के हाथों पड़ो
अबला बनी रोती रहे ;

तो व्यर्थ वह वंशावली
वे कुल - पुरुष भी व्यर्थ हैं,
नारी जहाँ संकट सहे
पुरूषार्थ के क्या अर्थ है ?

नारी - विरूपण की क्रिया
पौलस्त्य कुल अपमान था,
प्रतिशोधवश सीता - हरण
मेरा सहज अभियान था।

वर्ना न कोई पाप या
मुझमें न कोई द्वेष था;
कुल की सती निंदित हुई
इसका मुझे पर क्लेश था।

रघुवंश से प्रतिशोध का
निर्णय भले दु:साध्य था;
रावण मगर संमान की
प्रतिबद्धता से बाध्य था।

पौलस्त्यकुल रघुवंश में
संघर्ष सीधा ठन गया;
इस राम - रावण युद्ध का
कारण विरूपण बन गया।

तुमने किया कुकरम भले
मैंने नही वैसा किया;
लंकानगर की भूमि पर
संमान सीता को दिया।

रखना महल के बीच !--
बनती शील - विघटन की क्रिया;
मैं इन्द्र - सा पापी नहीं
करता कहीं जो अघ - क्रिया।

त्रिजटा दया की मूर्ति को
दायित्व रक्षण का दिया;
मैंने निभाई शीलता
है नीतिप्रद बदला लिया।

यह युद्ध विश्लेषण कभी
इतिहास शायद कर सके;
दो राजवंशों का कलह—
विन्यास शायद कर सके।

करुणा - दया की भावना
रणभूमि में चलती नही;
बँजर प्रदेशों में कभी
सुखकर हवा बहती नहीं।

प्रतिशोधमय आचरण में
गुण - दोष की गणना कहाँ;
जब प्रश्न हो संमान का
तो शत्रु पर करुणा कहाँ?

कन्या विरूपित देख कर
थे विश्रवा विचलित हुए;
ब्रह्मा - तनय सु - पुलस्त्य भी
अनधीर उद्वेलित हुए।

कैसे न खौले खून यह
कैसे भुजाएँ शांत हों;

जब शेर पर ठोकर लगे
कैसे न वे दुर्दांत हों ?

निज वंश के अपमान से
मैं बाध्य प्रतिशोधक बना;
दो श्रेष्ठ वंशों का दुखद
तब रक्त रंजित रण ठना।

बेटी - बहन की लाज होती
वंश की गरिमा गहन,
यह लोक - मर्यादा बडी
पावन परम सम्मान धन।

योद्धा करे अभ्यर्थना
इस लोकधर्मी रीति की,
बहती विमल धारा सहज
उर में परस्पर प्रीति की।

पहले उतारे आरती
माँ के चरण की स्नेह से,
पश्चात् मंदिर को चले
ले दीप - माला गेह से।

इस लोकधर्मी रीति में
कुल - देव की पूजा प्रथम,
सब देव आते बाद में
निभता प्रथम कुल का धरम।

जिसने हनन - खंडन किया
इस पूज्यतम सम्मान का,
वह वंशघातक शत्रु हो,
दायी बने अपमान का।

योद्धा लड़े अंतिम समर,
ललकारता हर वर्ग को,
सम्मान पर संकट दिखे
वह त्याग देता स्वर्ग को।

परिवार - पुरजन - पुत्र क्या
तब तुच्छ होते प्राण भी,
वह राष्ट्र की रक्षा करे
होकर स्वयं निष्प्राण भी।

योद्धा न जिंदा छोडता
उस वंशघाती श्वान को;
प्रतिशोध की ज्वाला जले,
ललकारता दुष्प्राण को।

यह लोकधर्मी मान्यता
है अटपटी, पावन मगर;
मैंने यहीं पर बाध्य हो
रघुवंश से छेड़ा समर।

लेकिन मुझे संतोष है,
जो भी हुआ, अच्छा हुआ;
कुल - रीति का पालन किया
यह अंत भी स्वेच्छा हुआ।

युद्धांश इच्छित जीतकर
मैंने विजय कर ली, लखन;
अपमान का बदला लिया
पाया सुखद सम्मान - धन।

रण में कभी होती नही
सम्यक् विजय संग्राम से;

यह अंशधर्मी वृत्ति है
हिंसक - कुटिल परिणाम मे ।

हैं पक्ष दोनों हारते
रणभूमि में लाचार हो;
होती विजय भ्रामक, जहाँ
बहती लहू की धार हो ।

नर में जब भी अपराध - बोध
का ज्ञान उदय होता है;
विस्तृत होता है मुक्ति - मार्ग,
मन अंधकार खोता है ।

होती वह घडी बड़ी दुर्लभ
जब प्राप्ति तुच्छ बनती है !
मिथ्या लगता संसार सकल
जब त्याग - वृत्ति बढती है ।

उद्भव - विकाश के नियम बनें,
पल्लवन और विप्लव के भी;
चलती है धरती नियमबद्ध
पर कुटिल सत्य अनुभव के भी ।

देखा हमने समुद्र - मँथन
देवासुर का संग्राम लड़ा;
घनघोर तपस्या की मैंने,
गुरुकुल में वेद - पुरान पढ़ा ।

कहने को होतीं धर्मनीति,
रणनीति और प्रतिमान सभी;
चल पड़ें स्वार्थ के दाँव - पेंच
लड़ते जब पुरुष महान कभी ।

आते - जाते पतझड बसंत,
जीवन की गति चलती रहती;
क्या हार - जीत, क्या पाप - पुण्य
बस रीति - नीति निभती रहती।

है जन्म - मृत्यु की बात व्यर्थ,
सब विजय - पराजय निष्फल है,
हारता न योद्धा युद्ध कभी
यदि टूटा नहीं मनोबल है।

मन से जीता तो जीत और
मन से हारा तो हार हुई;
हर बात अन्यथा व्यर्थ यहाँ
क्या जीत और क्या हार हुई।

जीवन में जीते बहुत युद्ध,
लेकिन न युद्ध मन का जीता;
वह आज विजय पा ली मैंने,
यह अंत बडा अच्छा बीता।

तुम पूछ लेना राम से
कितनी विजय उनकी हुई,
रावण उठाकर सर चला,
इच्छा सभी पूरी हुई।'

सुन सद्‌बचन लंकेश के
सौमित्र थे विस्मित हुए;
पांडित्य से अभिभूत हो
बरबस चरण में नत हुए।

देकर गए अंतिम विदा,
कहने लगे जब राम से,
आँखें सजल होने लगीं
उस वीरवर के नाम से।



चिंतन सार

किसमें कितना गुण - दोष भरा,
यह बडा कठिन कहना, बेटा !

माया के मोहक मेले में,
रिश्तों के भ्रमित झमेले में,
सब अपना हानि - लाभ देखें,
परहित में दुख कितना दारुण,
यह बड़ा कठिन कहना, बेटा !

नर और यही सुर - मुनि की गति
निज स्वार्थ - हेतु सब प्रीति करे
होता हर तन का लहू लाल,
पर किस मन बसता कौन रंग
यह बड़ा कठिन कहना, बेटा !

विधि के विधान की कौन कहे,
दुख पड़े, संग में कौन रहे,
सुख के सव साथी घर - वाहर,
दुर्दिन में देगा कौन संग
यह बड़ा कठिन कहना, बेटा !

जब रावण के सुख के दिन थे,
सग मे सब बधु, विभीषण थे,
यह लंका बड़ी सुहावन थी,
हर चीज बड़ी मनभावन थी,
लेकिन दुर्दिन मे बड़ा सहज
था, लंका को तजना, बेटा !

जो गुण-अवगुण रावण में थे,
वे नये नहीं, बचपन से थे,
था यहीं विभीषण संग-संग,
भोगा सब सुख औ' राग-रंग,
पर कही न जाती दुर्दिन की,
मैं कितनी कहूँ विभीषण की,
था उसमें कितना पाप-पुन्य
यह बडा कठिन कहना, बेटा !

कुछ दोष स्वजन में बढ जाए,
दुश्मन सीमा पर चढ आए,
माँ की छाती पर पैर अडा,
देवता देश को घेर खडा,
तो क्या कहता है लोक धर्म—
निज देश-वंश तजना, बेटा ?

कहने को भाई अपना था,
सुख में, दुख मे संग रहना था,
पर बुरे समय में दिया दाँव,
कर गया पीठ में बड़ा घाव,
ये सभी सोच के रोती हूँ,
अपनों का ही दुख ढोती हूँ,
इस दारुण दुख की पीड़ा को
है बड़ा कठिन सहना, बेटा !

ज्ञानी भी हो जाते कृतघ्न,
लेकिन कृतज्ञ होते वन-जन,
वानर की जाति लड़ी वन की,
पर देखो बंधु विभीषण की;
लंका से द्रोह किया किसने
वन-जन या वन्धु विभीषण ने ?
यह बड़ा कठिन कहना, बेटा !

खा कर पत्तल में किया छेद,
दे दिया शत्रु को राज-भेद,
उसको न जरा भी लगी लाज
हो गया वंश में दगाबाज,
'है मित्र-मित्र, दुश्मन दुश्मन,
चाहे नर हो या नारायन'—
कितना असत्य यह तथ्य-कथन !
यह बड़ा कठिन कहना, बेटा !

लंका में 'सरमा' रामभक्त
मयसुता और त्रिजटा भी थी,
लेकिन स्वदेश का मोह-छोह
जननी की कुछ ममता भी थी।
इन पूजनीय प्रतिमानों में
किसका वह भक्त विभीषण था—
यह बड़ा कठिन कहना, बेटा !

थी लंका यही, यही सीता,
थी विपत्ति-संगिनी यह त्रिजटा,
'सरमा' उसकी सेवा करती,
मयसुता स्नेह देती रहती,
यद्यपि सीता-दुख दारुण था,
पर आता नहीं विभीषण था।
था स्वार्थभक्त या रामभक्त ?—
यह बड़ा कठिन कहना, बेटा !

संशय में जग के वीर पड़े, यह
किसकी विजय - पराजय है ?
क्या जीत विभीषण की सचमुच
या विजित दशानन की जय है ?
जो जिसके जी में कहे तथ्य,
पर मेरे मन का यही सत्य, --
अब बड़ा कठिन है रावन बिन
इस लंका में रहना, बेटा ?

जब हुई विरूपित शूर्पणखा,
रोये पुलस्त्य, रोई त्रिजटा,
कुल - कन्या के सम्मान - हेतु,
निज वंश - जाति के मान - हेतु,
उसने था सीता - हरण किया,
प्रतिशोध - पंथ का वरण किया,
कब, कहाँ हुआ दोषी रावण ?—
यह बड़ा कठिन कहना, बेटा !

अब तो सब बातें बीत गई,
लोगों की यादें रीत गईं,
रह गया शेष यह मरघट है,
लंका मुर्दों का जमघट है;
जो किया राम ने ठीक किया,
रावन को ऊपर भेज दिया;
पर कितना किया भला किसका
रावन या भक्त विभीषण का ?—
यह बड़ा कठिन कहना, बेटा !

× × ×

उसने कितना उपकार किया,
मुझको बेटी का प्यार दिया।

जब हर कर लाया सीता को,
दे गया उसे इस त्रिजटा को।

यह है अशोक - वाटिका वही;
थी जहाँ जनक की सुता रही।
त्रिजटा यह बड़ी अभागन थी,
ढोनी नयनों मे सावन थी।

जिस दिन सीता लंका आई;
थी गोद प्रफुल्लित भर आई।
माँ की गोदी में बेटी थी;
जंघों पर सर धर लेटी थी।

सच कहती दूध उमड़ आया;
प्रकटा जिस दिन उसका साया।
'माँ' कह कर मुझे पुकारा था;
मैंने सस्नेह दुलारा था।

रावण पत्नी संग आता था;
सीता को त्रास दिखाता था।
लेकिन वह निरा बहाना था;
दुश्मन को उसे खिझाना था।

मुझको पहरे पर डाला था;
दशकंधर बड़ा निराला था।
मैं रहती पहरेदारी मे;
सीता की खातिरदारी में।

लेकिन पति - सुख से वंचित थी,
वह रहती हरदम चिंतित थी।
पति के चरणों में निरत रही;
लंका से पल - पल विरत रही।

सीता थी पावन गंगा - जल;
वह थी पूजा का तुलसी दल।
तन से लंका में बसती थी,
मन किये राममय रहती थी।

मैं अमित धनी थी सीता - सग;
रहता था पुलकित अंग - अंग।
जब भी बिटिया घबराती थी;
मैं 'सपना' सुखद सुनाती थी।

जलने - मरने की बात करे,
रो - रो के आधी रात करे;
तब बात बदल समझाती थी,
धीरज दे उसे सुलाती थी।

कहने में नई - नई बातें;
काटी मैंने अनगिन रातें।
हनुमान यहाँ जब आये थे,
संदेश राम का लाये थे;

खुशियों से वह मुसकाई थी,
मैं भी प्रसन्न हो आई थी।
सीता चुपचाप चली जाती,
रावण को हवा न लग पाती;

मैं भी न रोक पाती उसको,
बेटी का प्यार दिया जिसको;
लेकिन होती वह विकट घड़ी;
पहरे पर थी मैं स्वयं खड़ी।

इस ओर प्रीति, विश्वास उधर,
किस भाँति कहाँ जाती बचकर;

मैंने तब मन में ठान लिया,
क्या भला - बुरा पहचान लिया।

हनुमत ने जब प्रस्ताव किया,
सीता के मन का भाव लिया;
हो गई सजग मैं तुरत खड़ी,
दोनों पर मेरी आँख गडी।

कर्त्तव्य - चेतना से भरकर,
मैं वज्र हो गई यूँ तनकर;
वह तो अनीति---पातक होता—
वीरों का हित—घातक होता।

"दंडकवन सीता - हरण हुआ;
फिर लंका में प्रतिहरण हुआ ?—
यह तो पौरुषमय कर्म न था;
किंचित् वीरों का धर्म न था।

दुर्भाग्य कहीं ऐसा होता,
यश का स्वरूप कैसा होता।
दुख कौन हरण दारुण बनता—
लंका का या दंडकवन का ?

उठ जाता प्रश्नों का समूह,
ठनता विवाद का चक्रव्यूह;
वीरों का हृदय दहल जाता,
सारा इतिहास बदल जाता।

यह उभयपक्ष से था धोखा,
अतएव उसे मैंने टोका;
सीता थी बातें समझ गई,
रो - रो के मुझसे लिपट गई।

मै भी रोती थी जार-जार,
सीता पर आता था दुलार;
उसने विश्वास किया मुझ पर,
सो गई गोद में सर धर कर।

सपनों मे आते राम सदा,
मैं लेती रहती नाम सदा,
सीता खुश होकर सुनती थी,
मैं राम-राम जब रटती थी।

"कब आएँगे ?"—पूछा करती,
मैं सच्ची बात कहा करती;
जब-जब भी स्वप्न सुनाती थी,
सीता प्रसन्न हो जाती थी।

अब कितनी कहूँ कथा उसकी,
साँसों में भरी व्यथा जिसकी;
बेटी मेरी थी, पावन थी;
सच कहती बड़ी सुहावन थी।

सीता की सोच-सोच रोती,
उसकी यादों के सग सोती;
मै यही खड़ी मिट जाऊँगी,
पर उपवन छोड़ न जाऊँगी।

यह उपवन या दंडकवन हो,
उसकी गरिमा-संपुट अपार।
फिर भी मिथिला की बेटी को
है लिखा नही रघुवंश-प्यार।

है बड़ी अयोध्या पुण्य-भूमि,
लेकिन सीता का भाग्य खोट,

यह काल - चक्र की महिमा है,
जो करे मुहूरत देख जोग।

जब डोली चली जनकपुर से,
रोये थे जनक - सुनयना भी,
रोया मिथिला पावन प्रदेश,
रो उठे गांव, घर, अगना भी।

रो उठा गगन, धरती रोई,
करुणा से तरु सुध - बुध खोये;
बेटी की दुखद विदाई में
पशु - पक्षी बिलख - बिलख रोये।

यद्यपि सीता जग - हित जनमी,
पर दुलहिन बड़ी अभागन है।
बेटी का रूप सुखद उसका,
पर दुख से भरी सुहागन है।

सुख भोग न पाई अवध - बीच,
वन चली पिया के संग - संग।
जग के हित वन - वन बिलख गई,
यह काल - चक्र का विषम रंग।

सीता शिविका में बैठ चली,
था हुआ यहाँ अपशकुन, सखे!
कर चला विभीषण अगुआई,
तब आये मुझको 'सपन' सखे!

मैं स्वप्न - दर्शिनी त्रिजटा हूँ,
मेरे सब सपने साँच रहे।
सीता को दारुण दुख आगे,
उनकी यह करुण पुकार कहे।

क्या राज - भवन, क्या स्वयं राम,
सारे सुख, राज - दुलार सखे !
सीता को कभी नसीब नहीं,
मैं कहती स्वप्न - विचार सखे !

टूटा पिनाक जब मिथिला में,
फूटा सीता का भाग तभी,
विधि का विधान क्या कहूँ तुझे,
है शेष तपन औ' त्याग अभी।

सीता के सुखद स्वयवर में,
था परशुराम का मान हटा,
वह काल - खंड था बड़ा विकट,
जब शिव का भी प्रतिमान घटा।

क्या परशुराम, क्या दशकंधर,
क्या शूर्पणखा की नाक कहो,
क्या बालि - हनन, वन - गमन कांड,
प्रतिफल सब भग्न पिनाक कहो।

इन सभी दुखों का मूल कौन ?
यह बड़ा कठिन कहना, बेटा !
या थे विदेह या वैदेही ?
अच्छा है चुप रहना बेटा !

था मानस वरण किया पहले,
टूटा था उसके बाद धनुष,
क्वाँरी सीता ने शक्ति - सहित
पाया था पति अवतार - पुरुष।

भावी है बड़ी प्रबल सुन ले,
क्या हानि - लाभ, क्या यश-अपयश,

यद्यपि सीता जग-हित जनमी,
पर निज हित में हो गई अबला।

अवतार-पुरुष हैं राम, मगर
सीता जग में भूमिज नारी,
वह जन्म-मृत्यु से ऊपर है,
उसकी जननी धरती मारी।

महलों के सुख से वंचित है,
सीता का अगम सुहाग भरे!
जनमी थी सती अलौकिक बन,
सुख-चैन न उसके भाग भरे!

जिस पल विदेह ने गर्व-सहित
शिव-चाप भंग-अनुष्ठान किया,
था कहाँ 'स्वयंवर' शेष बना,
कब स्वयं वरण को मान दिया।

संकल्प जनक का दर्पपूर्ण
सीता ने जग-हित तोड़ा था,
पर मर्म न कोई जान सका,
जब प्रेम राम से जोड़ा था।

तोड़ी थी उसने लोक-रीति,
पर पिता-प्रतिज्ञा पाली थी,
बन सका यज्ञ था स्वयं-वरण,
हँस कर वरमाला डाली थी।

हैं राम धर्म के रक्षक तो
सीता में शील-शक्ति पलती,
जग के हित सदा समर्पित है,
पर मन की थाह नहीं मिलती।

वह लोक - हितों में जनमी है,
पर लोक न उसको समझेगा,
वह दुखिया लोकाचारों की,
यह लोक कदापि न सुधरेगा।

कुछ दृष्टि - दोष, कुछ श्रवण-दोष,
यह लोक दोष से चलता है,
पर - दोष देखना लोक - रीति,
यह लोक दोष में पलता है।

सीता में दोष निकालेगा यह
लोक, स्वप्न मेरा कहता,
नृप राम अवश हो जाएँगे,
रो - रोकर मन मेरा रहता।

डोली फिर चली अवध को है,
लुटेगी किन्तु कहारों से;
बच कर निकली है भँवरों से,
लुटेगी किन्तु किनारों से।

जो बनते लोक - पहरुए हैं,
डोली में दाग लगाएँगे;
तड़पेगी सीता कुसुम - कली,
वे नोंच - नोंच रस पाएँगे।

रहने न अयोध्या में देंगे
इस लोक - रीति के महाबली,
सीता फिर वन - वन भटकेगी
विपदा की मारी कुसुम - कली।

छुट गई सुनयना मिथिला में,
लंका में त्रिजटा छूट गई;

बेटी की डोली क्या निकली,
बेटी की किस्मत फूट गई।

त्रिजटा के सपने टेर कहें
बेटी की करुण कहानी को,
घिर रहे मेघ काले नभ में,
सीता तरसेगी पानी को।

बेटा, क्या मन की व्यथा कहूँ।
बस यही सोच के रोती हूँ;
सीता की यादों में जगती
यादों में उसकी सोती हूँ।



सत्य–दर्शन

जो कथा कही सो साँच कही,
अब कारण - स्रोत बताऊँगी;
भ्रम बना जीव - मन का दर्शन,
उस भ्रम का भेद सुनाऊँगी।

किस कारण सीता - हरण और
किस कारण रावण - मरण हुआ,
यह कारण - दर्शन बड़ा कठिन,
क्यों सत्य - शील का क्षरण हुआ।

सुख की, दुख की बातें अनेक,
तन - मन के अनगिन राग - रंग;
क्यों चले जीव - मन के भीतर,
बन उड़ें व्योम में ज्यों विहंग।

क्या देव और क्या नर - किन्नर,
मैं सबकी व्यथा सुनाती हूँ;
जो मोह प्रश्न बन घेर खड़ा,
उसका भी राज बताती हूँ।

प्रबल यह प्रश्न जीव के बीच
सत्य का भार सहेगा कौन ?
बना है चक्र - व्यूह दुर्भेद्य,
पुरुष तलवार गहेगा कौन ?

सत्य जो कहा, घिरा दुख बीच,
दुःखों से प्यार करेगा कौन ?
उदधि के लुटे त्रयोदश रत्न,
गरल स्वीकार करेगा कौन ?

वासुकी नाग डोर बन झुले,
मथानी मदराचल की देह;
मथा जब सबल सिन्धु का वक्ष,
बढ़ा था सुर-असुरों में नेह।

सत्य पर पड़े असत् के पाँव,
लोभ-लोलुपता उर के बीच;
मथें दो शत्रु-मित्र सम सिन्धु,
हृदय को कपट-कलुष से सींच।

उदधि का गर्भ छलों से छील.
बटोरें रत्न पातकी हाथ;
लक्ष्य था अमर देह की प्राप्ति,
स्नेह के भीतर बैठा स्वार्थ।

खौलने लगा सिन्धु का वक्ष,
लहर से निकलीं लपटें लाल;
हलाहल सत्य-रूप धर तना,
सहम कर हटे देव-दिक्पाल।

बने जो अमिय-कुंभ के दस्यु,
हलाहल देख हुए हैरान;
करेगा कौन सत्य का वरण,
करेगा कौन वीर विष-पान ?

प्रतीक्षा थी पियूष की प्राप्ति
अमरता की थी उर में चाह;

देव दहशत से थे म्रियमाण;
लिये उर में अमर्ष अनथाह।

कपट की कलई खुलते देख,
देख अभिजातों का छल - छद्म;
विकल हो उठे असुर नादान
प्रकट जब हुए मीत के मर्म।

शंभु विस्मय से विहँसे देख,
मचा था कोलाहल सुर - बीच;
अमिय का लोभ, गरल का क्षोभ,
द्विधा से ग्रस्त, पीत भयभीत।

सत्य का विष - घट कर में थाम
शंभु ने किया कंठ को नील,
बची थी तब देवों की लाज,
बचा था सत्य - धर्म का शील।

निभाया था शिव ने सत् धर्म,
किया जब गरल - घूँट स्वीकार
मगर सुधरी न सुरों की जाति
सत्य की नाहक पहरेदार।

हाथ में लिये अमृत का कुंभ
भागते रहे भुवन - भर देव,
लूटने चले असुर का अंश,
शील के जो साधक स्वयमेव।

प्रश्न यह—सुखी कौन है जीव?
सत्य का बने कौन आधार?
गरल का वरण विहँस कर किया
कि जिसने गही अमिय की धार?

मनुज की बात छोड़ रे बन्धु !
देख ले देवों का इतिहास,
असत् का कौन बना आगार ?
न्याय का उच्छृंखल उपहास ?

जगत् की बड़ी विलोमी रीति,
सत्य का पंथ कंटकाकीर्ण;
असत् के अनुगामी समृद्ध,
शील - साधक के वक्ष विदीर्ण ।

हानि के भय से जो भयभीत,
पुरुष क्या बोल सकेगा साँच ?
मूलतः लोभी जो भी जीव,
करेगा केवल सच का नाच ।

अमरता से बन कर निर्भीक
चोर बन किया अमिय रसपान,
देख लो देवों की दुर्नीति
पक्ष धरते जिनका भगवान ।

प्रश्न फिर—सुखी कौन है जीव ?
सृष्टि में सुख के क्या आयाम ?
दुःखों से विकल यहाँ क्यों लोक ?
सुखों पर क्यों छिड़ता संग्राम ?

सुखों की, दुखी की कहानी सुनाती.
सखे ! अपने अनुभव की बातें बताती,
सुखों के ये मेले. दुखों के झमेले.
न चलते कभी-भी धरा पर अकेले ।

विपुल रूप इनके, ये जन-जन की बातें.
स्वभावों से उपजे ये मन-मन की बातें,

अहं और वहम दो युगल नेत्र इनके,
हैं इच्छा-अनिच्छा सृजन-स्रोत इनके,
बने बाहु इनकी प्रबल मोह-माया.
दुखी मन का पंछी उड़ा बिन अघाया

न सुख चीज कोई, न दुख चीज कोई,
ये मन के वहम हैं जो तन को भुलाते,
अगर भंग होता है जन-मन का संयम,
धरम के मरम बन भुवन-भर नचाते।

वही तन है मेरा, तुम्हारा वही तन,
सृजन के सपन-सा सँजोया-सजाया,
सुखाया वनों में यती ने जतन से,
वही तन तपी ने तपों से तपाया।

बड़ा ही कठिन पंथ है शीलता का,
जपों से, तपों से, अथक साधना से,
यही तत्त्व-धन है धरम के धनी का,
मिले आत्मबल से बड़ी यातना से।

बदलते है आयाम सुख के, दुखों के,
औ निग्रह-अनिग्रह रचें रूप काया,
न है आदि इनका, न है अन्त इनका,
विषम रंग धरते अगम इनकी माया।

बनें पथ्य-औषध कभी व्याधि के ये,
कभी बन गरल ये सु-तन को गलाते,
लगा घात बैठे सदा जीव-मन मे,
कुटिल काल-क्रम बन सृजन को नचाते।

जननी-जनमभूमि का भक्त भारी
तपःपूत रावण धरम का धनी था,

भुजाओं के भय से धरा काँपती थी,
तपी था, व्रती था, बली अग्रणी था।

शक्ति होती नही साधना-अर्चना
तो भजाओं के बल से धरा काँपती क्यों ?
रक्त में वंश का अंश होता नही
बाहुबल बीच बैठी विभा झाँकती क्यों ?

मूक दर्शक बने देखते देव थे,
था दशानन गरज राह चलता रहा,
'वीर को रोक ले'—वीर कोई न था,
तेज पुरुखों का तन में उबलता रहा।

साधना शंभु की, अर्चना ब्रह्म की,
काट गर्दन चरण में चढ़ावा दिया,
शक्ति रावण के नत हो--चरण चूमती,
आत्मबल से गगन को झुकाया किया।

शीलता सत्य बन साधना सुंदरम्,
योग-जप से दशानन शिवं बन गया,
सत्य-शिव-सुंदरम् का बना पुज था,
रक्त के तेज से ब्रह्म-सम बन गया।

देखना है अगर देख दशशीश को—
ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ चूमती थीं चरण,
लंक गढ़-सा नगर था सुहावन नहीं,
रीति से मेघ बरसे, बहे हँस पवन।

लोक तीनों कहो या चतुर्दश भुवन,
शौर्यबल में दशानन का सानी नहीं,
जीत ली सब दिशाएँ सहज वीर ने,
लंकपति से अपर स्वाभिमानी नहीं।

इन्द्रजित-सा तनय, था विभीषण अनुज,
पुन्य का पुंज थी पत्नी मंदोदरी,
कुम्भ-सम कर्णधारी अनुज संग था,
गढ़ को घेरे खड़ा सिन्धु-सा संतरी।

मगर जब चली शील-विघटन की आँधी,
बवंडर उठे थे बली के हृदय में,
सुखों के, दुखों के भँवर में फँसा था,
फँसा था प्रबल मोह वन के निलय में।

लुटे थे रतन धन सभी योग-जप के,
बढ़ी मोह-ममता महा अग्नि बन कर,
पतन धन-धरम का, पतन जाति-जनका
किया था अहं ने विषम वह्नि बन कर।

शीलता क्या गई –धर्म भी चल दिया,
नीति भी थी नहीं रह गई न्याय में,
नीर की, क्षीर की तर्क संज्ञा गई,
क्या भला, क्या बुरा न्याय-अन्याय में

लक्ष्मी हट गई—संपदा घट गई,
वंश का तेज तृण-भाँति जलने लगा,
हो गया था दशानन अकेला निपट,
रिक्तता की चुभन से बहकने लगा।

कीर्ति जो थी असुर-कुल में प्रह्लाद की,
वह दशानन की अन्तिम कथा बन गई,
दान उसने दिया शीलता का सहज,
शील-विघटन पतन की व्यथा बन गई।

वेद का है वचन. शास्त्र का है कथन–
'शील ही शक्ति है सत्य की, न्याय की.

यह अमर तत्त्व है धर्म की धार का,
यह अमर सूक्ति है हर विमल दाय की।

हर विवेकी पुरुष शील से सिक्त हो
दीप बन कर जला भक्ति का, ज्ञान का,
काल को जीत ले 'युगजयी' वह पुरुष,
धर्म का प्राण बन देवता दाय का ।

तात ! सब ये दशानन के थे रक्त में,
धन-धरम थे मिले वंशगत खेलते,
मुनि जनक विश्रवा से मिला शील-धन,
जो मगर था लुटा देखते-देखते ।

वीर वैसा न जनमा धरा पर कभी
कालिमा रात की, रवि-तपन रोक दे,
योगबल से विवश शंभु को भी करे,
बाहुबल से सृजन का चलन रोक दे ।

धर्म का बल नही, न्याय संबल नहीं,
उस पुरुष का कहो कौन रोके पतन.
स्वर्ण-लंका वही, बल वही वीर का,
पर लुटे सब रतन जब गया शीलपन ।

युद्ध उनने किया, प्रीति मैंने रची,
मध्य में हो खड़ी थी हिली तक नहीं,
देश का संग धर, इष्ट से प्रीति कर,
राम-मय थी बनी, पर मिली तक नहीं।

मैं दशानन नहीं, हूँ विभीषण नही,
राम की भक्त, पर देश-द्रोही नहीं,
लोक की चेतना, मातृ-ममता भरी,
प्राप्ति से, त्याग से मैं हूँ उन्मन नहीं ।

जानती भक्ति को, प्रीति की रीति को,
लोक-परलोक का भेद मैं जानती,
हानि क्या, लाभ क्या या भला, क्या बुरा
पाप का पुण्य से भेद मैं जानती।

सोच कर दोष-गुण मैं खड़ी हूँ यहाँ,
भेद लंका-अवध में विशद जानती;
जानकी की व्यथा, वीर रावण-कथा,
मर्म मन के विभीषण का मैं जानती।

तात ! कारण यही है व्यथा से भरी.
संग सीता अवध को गई ही नहीं,
लंक गढ़ से विरत हूं अवध से विलग.
मन की वातें किसी से कही तक नहीं।

जानकी के गमन का मुझे गम नहीं,
क्लेश इसका नही क्यों दशानन मरा,
पति-विहीना;हुई अनगिनत नारियाँ,
दर्द इसका नहीं स्वर्ण गढ़ क्यों जला।

एक ही आग उर में धधकती सखे,
पूत ने घात भारी किया देश से,
वंश-गरिमा मिटी, देश-गौरव मिटा
एक ही नीच के हीन आवेश से।

देश-द्रोही प्रतिष्ठा से युत क्यों हुआ,
कुल-कलंकी को क्यों मिल गई मान्यता,
सोच बस यह मुझे सालता है, सखे !
बीर-कुल से मिटी वीर की वीरता।

वंश-विघटन की घातक प्रथा जो चली,
जो भी प्रश्रय मिलता लोभ को, मोह को,

अपशकुन यह महा आर्यकुल-भूमि को,
मान्यता मिल गई देश से द्रोह को।

राज्य के लोभ में देश-द्रोही बनें
जो विभीषण, न होते कभी भक्त हैं,
जन्म लेंगे सदा अब धरा पर सखे!
कापुरुष वे अधम स्वार्थ आसक्त हैं!

देश की भक्ति-हित कब हुए बलि कहो,
कब कपूतों के मन प्रीति माँ की बसी,
स्वार्थ के वश शरण शत्रु की भी गिरें.
राष्ट्र-गरिमा के उनके हृदय में लसी।

राम के नाम का जो बहाना लिये
कुल-कपूतों को मिलती शरणागति रहे,
वीर कोई बचेगा धरा पर नहीं,
मातृभूमि की होती अधोगति रहे!

राम ने जो किया—काल का सत्य था,
पर विभीषण न समझेंगे उस सत्य को,
जो थी लीला अगम राम नर-रूप की,
देश-द्रोही न समझेंगे उस तथ्य को।

राम-मयता अगर राम की भक्ति थी,
दीन बन क्यों गिरा जब दुखी राम थे?
दुख सँभालें कभी, तो कभी नीच को,
इस विपद के बिना ही सुखी राम थे।

राज्य के लोभ में था शरण जब गिरा,
थे सशंकित-चकित वीरगण सब वहाँ,
देश का, वंश का बन के बैरी गया,
भेद की नीति ने दी शरण थी जहाँ।

व्यंग्य से राम ने हँस कहा देख के,
वंश-घातक शरण में गया जिस घड़ी -
'विश्व में बंधु है सब लखन-से नहीं.
शत्रु की मौत देखो शरण में पड़ी ।'

मान-अपमान का फिक्र उसको न था,
वंश का, जाति का छोह उसको नहीं,
क्लेश मुझको यही सालता है, सखे !
राज उसको मिला, लाज जिसको नहीं ।

इस विमल देश में, आर्य की भूमि पर,
आदि मानव बना कुल-कपूतों का यह,
दु ख यही—वीरवर-रक्त के बीज से,
षंड पैदा हुआ वंश वीरों का यह ।

बस इसी सोच में मै दुःखी हूँ, सखे !
देश-भक्तों की महिमा धरा से गई,
अब तो फूले-फलेगे विभीषण सदा,
मातृभक्तों की महिमा यहाँ से गई ।

सत्य मेरे हृदय का मगर यह कहे—
वीर रावण ने बोई लता कीर्ति की,
लाज कुल की बहू-बेटियों की रखी
नींव अनुपम रखी देश की भक्ति की ।

देशभक्तों की कोई कथा यदि लिखे
बात जब भी उठे आत्मसंमान की,
देश से द्रोह की कोई चर्चा चले—
याद आएगी लंका की संतान की ।



शिव बचन चौबे

जन्म तिथि : 28–12–1944

स्थान : ग्राम-गायघाट भभुआ, जिला रोहतास (बिहार)

शिक्षा : बी० एस-सी० इंजीनियरिंग

कृतियाँ : कैकेयी की रामभक्ति (काव्य)
रावण जिंदा है (काव्य)
बाल साहित्य पर अनेक पुस्तकें
शीघ्र प्रकाश्य
रावण कालीन गुप्तचर योजना
कृष्ण का रामत्व (ललित निबंध)
कनिया काकी (कहानी संग्रह)

सम्प्रति भारत सरकार के प्रतिष्ठान में वरिष्ठ प्रबन्धक

पता · 35, माधो मार्केट, लंका, वाराणसी